॥ ओ३म् ॥

...ादिभाष्यभूमिका

का

सरल अध्ययन

लेखक

वेदोपाध्याय श्री पं० विश्वनाथ विद्यालंकार



गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली

❀ ओ३म् ❀

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

एक सरल अध्ययन



लेखक
वेदोपाध्याय पं० श्री विश्वनाथ विद्यालंकार



गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली

प्रकाशक :
गोविन्दराम हासानन्द
आर्य साहित्य भवन,
४४०८, नई सड़क,
दिल्ली-११०००६

द्वितीय संस्करण : १९७८

मूल्य : २.००

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२



भूमिका

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका महर्षि दयानन्द सरस्वती ने रची है। महर्षि दयानन्द चारों वेदों के प्रामाणिक भाष्य करना चाहते थे। महर्षि से पूर्व भी चारों वेदों के भाष्य मिलते थे, परन्तु वे प्रामाणिक न थे। उन भाष्यों में इतिहासों, कथा-कथानकों तथा बुद्धि द्वारा अग्राह्य वर्णनों का समावेश था। महर्षि से पूर्व वेदभाष्यकर्त्ता सायण, उव्वट, महीधर आदि—योगी, तपस्वी तथा यथार्थद्रष्टा न थे, इसलिए वे वेदार्थों को न साक्षात् कर सके और न उन्हें समझ ही सके। ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकग्रन्थों के रचयिता ऋषियों ने, उपनिषत्कारों ने तथा निरुक्त के कर्त्ता यास्काचार्य ने वेदों के यथार्थ भावों को समझा और साक्षात् किया था। इसलिए यत्र-तत्र उपलब्ध इनके मन्त्रार्थ प्रामाणिक माने गये। महर्षि दयानन्द ने इन प्राचीन भाष्यों और मन्त्रार्थों के आधार पर, तथा अपनी योगदृष्टि द्वारा वैदिक तत्त्वों का साक्षात् कर वेद-भाष्यों के रचने का सङ्कल्प किया था। वे यजुर्वेद का पूर्ण भाष्य तथा ऋग्वेद का अपूर्ण भाष्य कर सके। जिन नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर महर्षि वेदभाष्य करना चाहते थे उनका विस्तृत वर्णन ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका ग्रन्थ में किया गया है। यद्यपि ये नियम तथा सिद्धान्त विद्वानों द्वारा मनन करने योग्य हैं, तथापि सभी को इन नियमों और सिद्धान्तों का कुछ परिचय हो सके इस निमित्त यह संस्करण तैयार किया गया है। इसमें सभी के समझने योग्य, सुगम भाषा में, उन नियमों और सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। इस संस्करण में प्रायः महर्षि की भाषा का ही उल्लेख हुआ है। आशा है कि आर्यसमाजों की पाठशालाओं में भी इस संस्करण का अधिकाधिक उपयोग किया जायगा, जिससे बालकों का वैदिक ज्ञान वृद्धि को प्राप्त हो सके।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
ईश्वर-स्तुतिप्रार्थनोपासना समर्पण विषय	५
वेदोत्पत्ति विषय	१४
वेदों का नित्यत्व विचार	१८
वेद स्वत:प्रमाण विषय	२०
वेदविषय-विचार	२१
ब्रह्मविद्याविचार	२९
मुक्ति विषय	३०
पुनर्जन्म विषय	३३
वेदोक्त धर्म विषय	३६
वर्णव्यवस्था विषय	३९
आश्रमव्यवस्था विषय	४१
पंचमहायज्ञ विषय	४४
राजप्रजाधर्म विषय	४८
प्राकृतिक विद्या विषय	५०
प्रश्नोत्तर विषय	५६
कतिपय पारिभाषिक शब्द	५८



ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना समर्पण विषय

ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि से ईश्वर यद्यपि अपना नियम छोड़ कर, स्तुति-प्रार्थना और उपासना आदि के करने वाले का पाप स्वयं नहीं छुड़ा देता, तो भी स्तुति आदि से यह लाभ होता है कि स्तुति से ईश्वर में प्रीति उत्पन्न होती है और स्तुति करनेवाला ईश्वर के आदर्श गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव को सुधार सकता है।

प्रार्थना से निरभिमानता होती है, और परमात्मा की सहायता मिलती है।

उपासना द्वारा परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होता है।

समर्पण द्वारा ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण करना होता है। अर्थात् अपनी आयु, प्राण, कर्मफल आदि को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञा के पालन में समर्पित करना। अर्थात् ईश्वर की प्रसन्नता के निमित्त अपने सब सांसारिक तथा आध्यात्मिक कर्मों तथा कर्मफलों को परमेश्वर के समर्पण कर देना। जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पण कर देता है उसके लिए परमकारुणिक परमेश्वर सब सुख देता है।

स्तुति के दो प्रकार और तदनुसार यत्न

स्तुति दो प्रकार की होती है। एक सगुण-स्तुति और दूसरी निर्गुण-स्तुति। आप शुद्ध हैं, सर्वज्ञ हैं, सनातन हैं—इस प्रकार की स्तुति सगुण-स्तुति कहलाती है। क्योंकि इस प्रकार की स्तुति में ईश्वर के उन-उन गुणों का वर्णन किया जाता है जो गुण कि ईश्वर में विद्यमान हैं। आप शरीररहित हैं, मृत्युरहित हैं, पाप से विद्ध नहीं हैं, आकाररहित हैं—इस प्रकार की स्तुति निर्गुण-स्तुति कहलाती है। क्योंकि इस प्रकार की स्तुति में शरीर, मृत्यु, पाप और आकार आदि गुणों से ईश्वर को पृथक् मानकर उसकी स्तुति की जाती है। स्तुति करनेवाले को चाहिये कि वह अपने गुण-कर्म-स्वभाव को भी ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश बनाने का यत्न करता रहे।

प्रार्थना के दो प्रकार और तदनुसार यत्न

प्रार्थना भी सगुण और निर्गुण रूप से दो प्रकार की होती है। भक्त ईश्वर को जिस सद्गुण से युक्त जानता है उस सद्गुण से अपने आप को भी युक्त करने की प्रार्थना को सगुण-प्रार्थना कहते हैं। तथा भक्त ईश्वर को जिस दोष या दुर्गुण से पृथक् जानता है उस दोष या दुर्गुण से अपने-आपको भी पृथक् रखने की प्रार्थना को निर्गुण-प्रार्थना कहते हैं। जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उसे वैसा व्यवहार भी करना चाहिये। जैसे कोई सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है तो उसे चाहिये कि वह जितना अपने से प्रयत्न हो सके अपनी बुद्धि को सर्वोत्तम बनाता भी रहे। अर्थात् अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ के उपरान्त ईश्वर से सर्वोत्तम बुद्धि की प्रार्थना करना उचित है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष की सहायता दूसरा भी करता है, वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष की सहायता ईश्वर भी करता है।

परन्तु ईश्वर से ऐसी प्रार्थना न करनी चाहिये कि हे ईश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश करो, मुझको सबसे बड़ा करो, मेरी ही प्रतिष्ठा हो, और मेरे अधीन सब हो जायें—इत्यादि। ऐसी प्रार्थना ईश्वर स्वीकार नहीं करता। क्योंकि ईश्वर उपकार करने की प्रार्थना में तो सहायक होता है, हानिकारक कर्मों में नहीं।

उपासना के दो प्रकार

उपासना भी दो प्रकार की होती है। सगुण-उपासना और निर्गुण-उपासना। सर्वज्ञत्व आदि गुणों के साथ ईश्वर की उपासना करनी सगुण-उपासना है। द्वेष, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श आदि गुणों से ईश्वर को पृथक् मानकर उसमें दृढ़ स्थित हो जाना निर्गुण-उपासना है। उपासना का अर्थ है "समीप स्थित होना"। उप (समीप), आसना (स्थित होना)।

उपासना की रीति

जब उपासना करना चाहे तब शुद्ध एकान्त देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोककर मन को

नाभि प्रदेश में या हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा में, अथवा पीठ की हड्डी के मध्य स्थान में स्थित कर, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को वार-वार करके, अपनी आत्मा को भली-भाँति ईश्वर में लगाकर उसमें मग्न हो जाय। इस प्रकार उपासक का आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से परिपूर्ण हो जाते हैं, और उपासक नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो उपासक आठ प्रहर[1] में एक घड़ी[2] भर इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त होता है।

उपासना में अपने मन और बुद्धिवृत्तियों को ईश्वर में स्थित करना होता है। उपासक अपने मन और बुद्धिवृत्तियों को, उपासना द्वारा, जब पहिले ईश्वर में युक्त करता है और ऐसा यत्न लगातार करता रहता है, तब ईश्वर अपनी कृपा से उसके मन और बुद्धिवृत्तियों को अपने में युक्त कर लेता है। तदनन्तर उपासक ज्योति-स्वरूप ईश्वर की ज्योति का साक्षात् कर लेता है। उपासना-योग द्वारा मन शुद्ध होकर, प्रभु के प्रकाश को प्राप्त हो, आनन्द लाभ करता है। इसमें अन्तर्यामी ईश्वर अपनी असीम कृपा से योगाभ्यासी को योगयुक्त करके उसकी आत्मा में महाप्रकाश प्रकट कर देता है। इसके लिए आवश्यक है कि अभ्यासी सच्चे प्रेम और भक्ति से ईश्वर की उपासना किया करे। साथ ही मंगलमय परमात्मा से प्रार्थना भी करते रहना चाहिये कि आपकी कृपा से हमें उपासना-योग प्राप्त हो, तथा आपकी कृपा से हमारी १० इन्द्रियाँ, १० प्राण, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल—हमारी ये २८ शक्तियाँ कल्याणमार्ग में प्रवृत्त रहें। हे प्रभो ! आप कृपादृष्टि से हमें सदा देखिये। हम लोग आपको सदा नमस्कार करते हैं।

उपासना का फल यह भी है कि जैसे शीत से आतुर मनुष्य का शीत अग्नि के पास जाने से निवृत्त हो जाता है, वैसे ईश्वर के समीप स्थित होने से जीव के सब दोष-दुःख छूट जाते हैं, और जीव ईश्वर

१. ३ घण्टों का एक प्रहर होता है। २. २४ मिनट की एक घड़ी होती है।

के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश पवित्र गुण-कर्म-स्वभाव वाला हो जाता है। साथ ही आत्मा का बल इतना बढ़ जाता है कि पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी मनुष्य घबराता नहीं। उपासना मुक्ति का सर्वोत्तम साधन है।

समर्पण

समर्पण के स्वरूप का वर्णन आरम्भ में कर दिया गया है।

स्तुति, प्रार्थना, उपासना के न करने में दोष

जो ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना नहीं करता वह कृतघ्न और महामूर्ख है। क्योंकि जिस ईश्वर ने जगत् के सब पदार्थ हमारे सुखों के लिए दे रखे हैं उनका गुण और उपकार भूल जाना ईश्वर ही को न मानने के समान है। यही कृतघ्नता और मूर्खता है।

स्तुति, प्रार्थना आदि के कतिपय स्वरूप

[१]

ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(तै० आ०, ६ प्रपा०, १ अनु०)

हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर! आपकी कृपा, रक्षा और सहायता से हम परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करें! हे पालना करनेवाले! आपके अनुग्रह से हम सब परम प्रीति से मिलकर सर्वोत्तम-ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्त्तिराज्य आदि द्वारा आनन्द को सदा भोगें। हे कृपानिधे! आप की कृपा से हम एक-दूसरे के सामर्थ्य को सदा बढ़ाते रहें। हे प्रकाशमय तथा सब विद्याओं के देनेवाले परमेश्वर! आपके सामर्थ्य से हमारा पढ़ा-पढ़ाया संसार में प्रकाश को प्राप्त हो, और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे। हे प्रीति के उत्पादक प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें, किन्तु एक-दूसरे के मित्र होकर सदा वर्तें। हे भगवन्! आप अपनी करुणा से हम लोगों के तीनों तापों को शान्त कीजिये अर्थात् आध्यात्मिक ताप जो ज्वर आदि से होनेवाले शारीरिक ताप हैं, आधिभौतिक ताप जो कि दूसरे प्राणियों द्वारा कष्ट

और क्लेश प्राप्त होते हैं, तथा आधिदैविक ताप जो कि मन और इन्द्रियों के विकारों से उत्पन्न होते हैं—इन तीनों तापों को आप शान्त कीजिये।

[२]

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ (यजुर्वेद अ० ३०। मं० ३)

हे देव! आप सूर्यादि सकल जगत् और वेद-विद्या का प्रकाश करनेवाले हो, तथा सब आनन्दों के देनेवाले हो। हे सर्वशक्तिसम्पन्न! आप सकल जगत् के उत्पादक हो। हमारे सब दुःखों और सब दुर्गुणों को आप-अपनी कृपा से दूर कर दीजिये। तथा सब दुःखों से रहित जो निःश्रेयस का सुख अर्थात् मोक्ष है, और जो सत्यविद्या की प्राप्ति द्वारा अभ्युदय-सुख का होना है, अर्थात् चक्रवर्त्तिराज्य, इष्टमित्र, धन, पुत्र, स्त्री और शरीर से अत्यन्त सुख का होना है—इन दोनों प्रकार के सुखों को आप हमारे लिए सब दिनों में प्राप्त कराइये।

[३]

ओ३म् य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजु० अ० २५, मं० १३)

हे जगदीश्वर! आप अपनी कृपा से वेदविद्या के दाता तथा अपने स्वरूप का विज्ञान देनेवाले हो। आप शरीर, इन्द्रिय, प्राण, आत्मा और मन में पुष्टि, उत्साह, पराक्रम और दृढ़ता के दाता हो। सब विद्वान् लोग आपकी ही उपासना करते आए हैं, और आपका उत्तम अनुशासन जो कि वेदोक्त शिक्षा है उसे सदा स्वीकार करते आये हैं। आपका आश्रय मोक्षसुख का साधन है, और आपका अनाश्रय अर्थात् परित्याग जन्म-मरण रूप दुःखों का कारण है। आप सुखस्वरूप हैं। सब प्रजाओं के पति हैं। आप सच्चे देव हैं। आपकी प्राप्ति के लिए प्रेम-और-भक्तिरूपी सामग्री द्वारा हम आपका नित्य भजन करें, नित्य आपकी उपासना करें। हे प्रभो! यह वरदान हमें दो।

[४]

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳪशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वᳪ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

(यजु० अ० ३६, मं० १७)

ओ३म् यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ (यजु० अ० ३६, मं० २२)

हे सर्वशक्तिमन् भगवन् ! आपकी भक्ति और कृपा से सूर्यादि लोकों का प्रकाश तथा विद्याविज्ञान सब दिन हमको शान्ति प्रदान करें, अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ हमें शान्तिदायक हों। संसार के सब विद्वान् और दिव्यशक्तियाँ हमें शान्ति देवें। वेदशास्त्र तथा संसार के सब पदार्थ हमें शान्ति प्रदान करें। हे भगवन् ! हमारे जीवन में शान्ति-ही-शान्ति हो। हे प्रभो ! ऐसी सुखमयी शान्ति हमें सदा प्राप्त रहे।

हे अभयदान के दाता परमेश्वर ! देश-देशान्तरों तथा दिग्-दिगन्तरों में आपको ही शक्ति और आपका ही सामर्थ्य कार्य कर रहा है। हे प्रभो ! इन देश-देशान्तरों तथा दिग्-दिगन्तरों से हमें अभय प्रदान कीजिये। हे शान्ति के स्रोत ! आपकी कृपा से समग्र प्रजाजनों से हमारे लिए शान्ति की लहरें उठें। हे रक्षक ! पशुओं तथा प्राणियों से हमारी रक्षा कीजिये।

[५]

ओ३म् तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ (यजु० अ० १९, मं० ९)

हे परमेश्वर ! आप अनन्त विद्या आदि गुणों से प्रकाशमय हैं हमारे हृदयों में भी आप विज्ञान का प्रकाश कीजिये। आप अनन्तपराक्रम से युक्त हैं, हमें भी पूर्ण पराक्रम से युक्त कीजिये। हे महाबलेश्वर ! आप अनन्त बलवाले हैं, आप-अपने अनुग्रह से हमारे शरीरों और आत्माओं में भी पूर्ण बल दीजिये। हे सर्वशक्तिमन् ! आप सत्य और

विद्या के बल के भण्डार हैं, हममें भी अपनी करुणा से सत्य और विद्या का बल स्थापित कीजिये। हे परमेश्वर! आप दुष्टों पर क्रोध करने-वाले हैं, हमें भी दुष्टों पर क्रोध करने का स्वभाव प्रदान कीजिये। हे सहनशील ईश्वर! आप हमें सुख-दुःख, हानि-लाभ, सरदी-गरमी, भूख-प्यास आदि को सहन करने की शक्ति प्रदान कीजिये।

[६]

ओ३म् इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावा पृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मा मेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय॥ (यजु० अ० ३८, मं० १४)

हे भगवन्! आप की दया से हमारी शुभ कर्म करने की ही इच्छा हो और आप हमारे शरीरों को उत्तम अन्न द्वारा सदा परिपुष्ट कीजिये। आप अपनी कृपा से हमें उत्तम पराक्रम से युक्त तथा प्रयत्न-शील कीजिये। हे आदिगुरु! वेदविद्या के पढ़ने-पढ़ाने और उस से यथावत् उपकार लेने में हमें पूर्ण सामर्थ्य प्रदान कीजिये, ताकि हम उत्तम ब्राह्मण बन सकें। हे परमेश्वर! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्त्तिराज्य को प्राप्त करें और शूरवीर सेना से युक्त होकर क्षत्रिय-वर्ण के अधिकारी बनें। हे भगवन्! जैसे पृथिवी, सूर्य, अग्नि, जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का उपकार होता है वैसे कला-कौशल, विमान आदि साधनों द्वारा हम सृष्टि का उपकार करनेवाले हों। हे न्यायकारी ईश्वर! हमें न्यायबुद्धि प्रदान कीजिये। हे भगवन्! आप जैसे निर्वैर होकर सबसे वर्ताव करते हैं वैसे ही हम भी वैररहित होकर सबसे वर्ताव करें। हे परमकारुणिक! हमें उत्तम राज्य, उत्तम धन, और शुभगुण प्रदान कीजिए। हे परमेश्वर! हमारे राष्ट्र में वेद-विद्या से सम्पन्न उत्तम ब्राह्मण हों, हमारे राज्य और क्षत्रियवर्ण का आप धारण-पोषण कीजिये, वैश्यवर्ण व हमारी प्रजा का धारण-पोषण कीजिये। अर्थात् सर्वोत्तम गुणों को आप हम में स्थापित कीजिये।

[७]

ओ३म् यस्मिन्नृचः साम यजूँ षि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथना-भाविवाराः। यस्मिँश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिव-संकल्प-मस्तु॥ (यजु० अ० ३४, मं० ५)

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजु० अ० ३४, मं० १)

हे भगवन् दयानिधे! जिस मन में ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद स्थित होते हैं, तथा जिस मन में अथर्ववेद अर्थात् मोक्षविद्या, ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश स्थित होता है, जिस मन में प्रजाजनों की स्मृति-वृत्तियाँ गठी रहती हैं, जैसे कि सूत्र में माला की मणियाँ, तथा पहिये की नाभि में अरे गठे रहते हैं—हे प्रभो! वह हमारा मन आपकी कृपा से शुद्ध-पवित्र हो तथा मोक्ष और सत्यधर्म के अनुष्ठान और असत्य के परित्याग करने के शुभ संकल्पों से सदा युक्त हो।

हे सर्व-व्यापक ईश्वर! जो हमारा मन जाग्रत अवस्था में दूर-दूर के विषयों में जाता है, जो ज्ञान आदि दिव्यगुणों से युक्त और प्रकाश-मान है, जो निद्रावस्था में दूर-दूर के पदार्थों के स्वप्न लेता, और सुषुप्ति में दिव्य आनन्द को भोगता है, जो दूर से दूर वस्तुओं का चिन्तन करता, जो ज्योतिर्मय इन्द्रियों को भी ज्योति प्रदान करता, तथा सूर्य आदि ज्योतिर्मय पदार्थों के ज्ञान का साधन है, वह हमारा मन,—जोकि एक शरीर में एक है,—हे परमेश्वर! आपकी कृपा से कल्याणमार्गी हो, और शुद्ध-पवित्र हो।

उपासना तथा नमस्कार

ओ३म् अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥
उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम ॥
भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः
प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥
ओ३म् यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

(अथर्व० का० १०, सू० ८)

हे भगवन् ! आप सब में व्यापक, शान्तस्वरूप तथा जल की भाँति प्राणों के भी प्राण हैं, आप ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानप्रदाता हैं, सबके पूज्य, सबसे बड़े तथा सहनशील हैं—इस प्रकार आपको जानकर हम सदा आपकी उपासना करते हैं ॥

आप प्रकाशस्वरूप, प्रेमास्पद, आनन्दस्वरूप, सर्वैश्वर्यों के स्वामी, तथा सहनशक्ति के प्रदाता हैं। इसलिए हम लोग आपकी निरन्तर उपासना करते हैं ॥

आप महाविस्तारी, आदि-अन्त-रहित, सर्वत्र परिपूर्ण, अन्तरिक्ष की भाँति अवकाशप्रदान द्वारा सबके निवास के स्थान हैं। इसलिए हम लोग आपकी उपासना करके आपके ही आश्रय में रहते हैं ॥

आप सब जगत् के प्रसारक, सर्वश्रेष्ठ, विविध जगत् के ज्ञाता, दर्शनीय तथा सर्वद्रष्टा हैं। इस प्रकार हम आपकी उपासना करते हैं ॥

हे प्रभो ! आप काम-क्रोध आदि शत्रुओं के निवारक हैं, वेदवाणी और शक्ति के आप पति हैं, व्यापक हैं, सामर्थ्यवान् हैं। इसलिए हम लोग आपकी उपासना करते हैं ॥

हे सर्वद्रष्टा जगदीश्वर ! आपको वार-वार नमस्कार हो, आप कृपादृष्टि से हमको देखिये। हम प्रेमभाव से अपनी आत्माओं में आपका साक्षात्कार करें। हे कृपालो ! अन्न आदि ऐश्वर्य, उत्तम कीर्ति तथा सम्पूर्ण विद्या के प्रदान द्वारा आप हमपर सदा कृपादृष्टि रखिये ॥

हे भगवन् ! आप भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् की सब घटनाओं और व्यवहारों के ज्ञाता हैं, आप समग्र जगत् के रचयिता, पालनकर्त्ता, तथा प्रलयकर्त्ता हैं, आप सब जगत् के अधिष्ठाता हैं, आप केवल सुख-स्वरूप हैं, आपमें दुःख का लेशमात्र भी नहीं, आप मोक्षसुख के दाता, तथा व्यावहारिक सुखों के प्रदाता हैं, आप ज्येष्ठशक्ति हैं, महासामर्थ्य-वान् हैं। हे परब्रह्म ! आपको अत्यन्त प्रेम और अगाध श्रद्धाभक्ति से हम सदा नमस्कार करते हैं।



वेदोत्पत्ति विषय

चार ऋषियों द्वारा वेदों का प्रकाश

वेद चार हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन वेदों को मन्त्रसंहिताएँ भी कहते हैं। मनुष्य-सृष्टि जब हुई तब परमेश्वर ने अग्नि नामक ऋषि के मन में ऋग्वेद का ज्ञान दिया, वायु नामक ऋषि के मन में यजुर्वेद का ज्ञान, आदित्य नामक ऋषि के मन में सामवेद का ज्ञान तथा अङ्गिरा नामक ऋषि के मन में अथर्ववेद का ज्ञान दिया। अथर्ववेद को आङ्गिरसवेद भी कहते हैं। अथर्ववेद को "छन्दांसि" भी कहते हैं।

वेदों का प्रकाश और लय

जैसे सहज स्वभाव से श्वास और प्रश्वास मनुष्य के शरीर से बाहर आकर फिर उसी के भीतर चला जाता है, इसी प्रकार सृष्टि के आदि में वेद ईश्वर से उत्पन्न होकर संसार में ज्ञान का प्रकाश करते हैं, और प्रलय में फिर उसी ईश्वर में विलीन हो जाते हैं, अर्थात् उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं।

परमेश्वर से शब्दमय वेदों की उत्पत्ति

परमेश्वर निराकार है, उसके मुख आदि अवयव नहीं हैं, तब भी परमेश्वर से शब्दमय वेदों की उत्पत्ति हुई है। निराकार तथा हाथ-पैर आदि से रहित परमेश्वर ने जैसे सम्पूर्ण जगत् की रचना की है, वैसे ही मुख आदि अवयवों के विना उसने वेदों की भी रचना की है।

तथा यह भी जानना चाहिये कि मनुष्य के मन में मुख आदि अवयव नहीं हैं, तथापि मन के भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का मानसिक उच्चारण होता है, वैसे परमेश्वर के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

वेद मनुष्य-रचित नहीं

वेदों के रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य नहीं है। ईश्वर द्वारा रचे वेदों के पढ़ने-पढ़ाने के पश्चात् ही विद्वान् बनकर मनुष्य में ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य हो सकता है, अन्यथा नहीं। वर्तमान समय में भी किसी शास्त्र को पढ़कर या किसी का उपदेश सुनकर तथा मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देखकर ही ज्ञानलाभ कर, मनुष्य ग्रन्थ रचते हैं। यदि किसी मनुष्य के बालक को जन्म से ही एकान्त में रखा जाय, और उसे अन्न-जल आदि किसी प्रकार दिया जाता रहे, परन्तु उससे भाषण आदि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे जबतक कि उसकी मृत्यु न हो जाय, तो उस बालक को मनुष्यपन का भी ज्ञान न हो सकेगा। ज्ञानी-विज्ञानी बनकर ग्रन्थ-रचना कर सकने का सामर्थ्य तो उसे कैसे हो सकता है ?

साथ ही यह भी जानना चाहिये कि बड़े-बड़े वनों में रहनेवाले जंगली जाति के मनुष्यों को, उपदेश के विना, यथार्थ-ज्ञान होते नहीं देखा जाता, और न ही उन्हें सभ्य लोक-व्यवहारों का ही ज्ञान होता है, किन्तु उनमें केवल पशुओं की-सी प्रवृत्तियाँ ही देखने में आती हैं। ऐसे ही वेदों के उपदेश के विना सब मनुष्यों में जङ्गली प्रवृत्तियाँ देखने में आतीं, ग्रन्थ रच सकने के सामर्थ्य की तो कथा ही क्या कहनी ?

स्वाभाविक ज्ञानग्रहण-शक्ति तथा विद्वानों द्वारा शिक्षाग्रहण

यद्यपि मनुष्यों में ज्ञानग्रहण करने की शक्ति स्वाभाविक है, परन्तु ज्ञानदाता के विना "स्वाभाविक ज्ञानग्रहण-शक्ति" ज्ञान ग्रहण कराने में असमर्थ है। उपरिलिखित दो दृष्टान्तों द्वारा, अर्थात् एकान्त में रखे बालक और वनवासियों के दृष्टान्तों द्वारा, यह बात प्रमाणित होती है। जैसे मन के संयोग के विना आँख से कुछ भी दीख नहीं पड़ता, तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कोई कार्य नहीं होता, वैसे ही वेदों और विद्वानों से शिक्षा ग्रहण किये विना मनुष्यस्थित स्वाभाविक ज्ञान धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की विद्याओं के ग्रहण कराने में असमर्थ है। किसी द्वारा उच्चज्ञान के ग्रहण किये विना स्वाभाविकज्ञान मनुष्यों

में केवल पाशविक प्रवृत्तियों को ही जागरित कर सकता है। स्वाभाविक ज्ञानमात्र उच्चज्ञान की प्राप्ति का साधन कभी नहीं हो सकता।

विद्या के दो प्रयोजन

परमेश्वर ने मनुष्यों के उपकार के लिए वेदों का प्रकाश किया है। यह परमेश्वर की परम कृपा है। परमेश्वर में अनन्त विद्या है। विद्या के दो प्रयोजन होते हैं, स्वार्थ और परार्थ। परमेश्वर अपनी अनन्त विद्या के सामर्थ्य से सब जगत् को रचता तथा उसे जानता है। यह उसकी विद्या का स्वार्थ-प्रयोजन है। विद्या का प्रयोजन परार्थ भी होता है। परमेश्वर ने अपनी अनन्त विद्या से मनुष्यों को वेदविद्या प्रदान कर अपनी अनन्त विद्या का दूसरा प्रयोजन जो कि "परार्थ" है उसे भी सफल बनाया है। यह परमेश्वर का महान् उपकार है जोकि उसने हमें वेदविद्या प्रदान की है।

जैसे परम कृपालु परमेश्वर ने प्रजा के सुख के लिए कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं, वैसे उसने सब सुखों का प्रकाश करनेवाली सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का भी उपदेश प्रजा के सुख के लिए किया है।

परमेश्वर माता-पिता के समान है

परमेश्वर हम लोगों के लिए माता-पिता के समान है। जैसे माता-पिता सदैव करुणापूर्वक अपनी सन्तानों के लिए सुख चाहते हैं, वैसे परमेश्वर भी मनुष्य आदि सब सृष्टि पर सदैव कृपादृष्टि रखता है। इसीलिए परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में वेदों का उपदेश किया है। परमेश्वर यदि अपनी वेदविद्या का उपदेश न करता तो धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को प्राप्त न होती, और उसके विना किसी को परमानन्द की प्राप्ति न होती।

वेद पुस्तक रूप नहीं

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि वेदों का प्रदान पुस्तक के रूप में न हुआ था, अपितु अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक ऋषियों

के ज्ञान में वेदविद्या का उपदेश किया गया था। जैसे कि गुरुपरम्परा द्वारा, विना पुस्तकों के भी, शिष्यपरम्परा को ज्ञान प्रदान होता चला आया है। जैसे हाथ-पैर अवयवों के विना, तथा जैसे काष्ठ, लोह आदि साधन-सामग्री के विना परमेश्वर ने समस्त जगत् की रचना की है, वैसे मुख, जिह्वा आदि अवयवों के विना परमेश्वर ने ऋषियों को वेदोपदेश किया है, चूँकि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है।

वेद-विद्या के प्रदान में परमेश्वर पक्षपाती नहीं

वेदविद्या का प्रकाश चार ऋषियों द्वारा हुआ। परमेश्वर ने सब मनुष्यों को वेदज्ञान का प्रकाश नहीं दिया। इससे परमेश्वर पर पक्षपात का दोष नहीं आता। इससे तो परमेश्वर की न्यायकारिता प्रकट होती है क्योंकि न्याय का अभिप्राय है कि जो जैसा कर्म करे उसे वैसा ही फल दिया जाय। इन्हीं चार ऋषियों के ऐसे पूर्वसंचित पुण्यकर्म थे कि उनके हृदयों में वेदों का प्रकाश किया गया, उनसे भिन्न मनुष्यों के ऐसे पुण्यकर्म न थे कि उनके हृदयों में भी वेदविद्या का प्रकाश किया जाता।

वेद तथा श्रुति

ऋग्वेद आदि चारों द्वारा सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य आदि का ज्ञान होता है, और इनमें नाना विषयों का वर्णन है, इसलिए इन्हें वेद कहते हैं (विद् ज्ञाने)। वेदों का नाम श्रुति भी है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज पर्यन्त वेदों द्वारा, उपदेश परम्परा से, हम सत्यविद्याओं का श्रवण करते आये हैं, इसलिए वेदों को श्रुति भी कहते हैं (श्रु श्रवणे)। वेदों के ऋषि वेदों के कर्ता नहीं हैं, वे भी इसी उपदेश-परम्परा से अनादि वेदों को सुनते ही चले आ रहे हैं। अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा को, वेद के प्रकाश के लिए, परमेश्वर ने केवल निमित्तमात्र बनाया था, अतः ये भी वेदों के कर्ता नहीं हैं। अपितु वेदरूपी परमात्मा-सन्देशों के प्रसार में केवल माध्यम रूप हैं।



वेदों का नित्यत्व-विचार

वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए वेद स्वत: नित्य-स्वरूप हैं, क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य है। वेद शब्द हैं तो भी लौकिक शब्दों की भाँति शब्दमय वेद अनित्य नहीं हैं। क्योंकि शब्द दो प्रकार के होते हैं एक नित्य और दूसरे अनित्य। जो शब्द परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं। परन्तु हमारे बोलचाल तथा साहित्य के शब्द अनित्य होते हैं। परमेश्वर का ज्ञान और स्वभाव नित्य हैं, इसलिए वेद भी, जो कि परमेश्वर के ज्ञान स्वरूप हैं, नित्य हैं। वेद ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहते हैं, प्रलयकाल में भी उनका विनाश या अभाव नहीं होता। प्रलयकाल में केवल वेदों की अप्रसिद्धि होती है, अभाव नहीं। वेदों में जिस प्रकार शब्द और अर्थ हैं तथा पद और अक्षर जिस-जिस क्रम में हैं वे सदा इसी प्रकार से बने रहते हैं। पूर्व-कालों में भी ऐसे थे और भविष्य में भी ऐसे ही रहेंगे। चूंकि वेद ईश्वर की विद्या है अत: वे नित्य एक रस ही बने रहते हैं।

भारत के प्राचीन ऋषि-मुनि वेदों को नित्य ही मानते चले आये हैं। योग-दर्शन में लिखा है कि गुरुशिष्य-परम्परा में आदिगुरु ईश्वर ही है, जिसने कि सृष्टि के आदि में अग्नि आदि चार ऋषियों द्वारा वेदविद्या को प्रकट किया है। इस प्रकार योगदर्शन की दृष्टि में भी वेद नित्य हैं, क्योंकि वे आदिगुरु ईश्वर द्वारा उपदिष्ट किये गये हैं।

वेदान्तदर्शन में "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र पर श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं कि ऋग्वेद आदि चारों वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं, ये सूर्य के समान सब सत्य अर्थों का प्रकाश करनेवाले हैं अत: उनका रचनेवाला सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त परब्रह्म है। क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणों से युक्त इन वेदों को बना सके, ऐसा

सम्भव नहीं है। ये वेद स्वतः प्रमाण हैं। इनमें जिस-जिस विद्या का वर्णन है उस-उस विद्या की सत्यता के लिए किसी अन्य प्रमाण की साक्षी की आवश्यकता नहीं है। वेद से भिन्न सब ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं, अर्थात् वेदों के अनुकूल होने पर ही वे प्रमाण समझे जा सकते हैं। परमेश्वर जब-जब सृष्टि रचता है तब-तब प्रजा के हित के लिए सृष्टि की आदि में सब विद्याओं से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है, और जब-जब सृष्टि की प्रलय होती है तब-तब वेद परमेश्वर के ज्ञान में सदा बने रहते हैं। इससे वेद नित्य हैं, अनित्य नहीं।



वेद स्वतः-प्रमाण विषय

स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण

प्राचीन आर्य विद्वानों ने परमेश्वर द्वारा प्रोक्त ४ वेद ही स्वतः प्रमाण माने हैं। अर्थात् चारों वेद अपने आप ही प्रमाण हैं। वेदों से भिन्न ग्रन्थ, जो कि जीवों के रचे हुए हैं, वेदों के अनुकूल होने पर ही प्रमाण माने जाते हैं। इसलिए जीवरचित ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं चूंकि वेद परमेश्वर के रचे हुए हैं और परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिमान् है, इस कारण उसका कथन भी निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है। जीवों के बनाए ग्रन्थ स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि जीव सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते। इसलिए उनका कहना स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता।

स्वतः प्रमाण में दृष्टान्त

वेद, सूर्य के समान, प्रमाणभूत है। अर्थात् जैसे सूर्य अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होकर सबको प्रकाशित करता है वैसे ही वेद भी अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होकर अन्य ग्रन्थों को भी प्रकाशित करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो-जो ग्रन्थ वेदों के विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं हैं, और वेदों का यदि अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो तब भी वेद अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते, क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं। इसलिए वेदों से भिन्न जो-जो ग्रन्थ हैं वे वेदों के अनुकूल होने से ही प्रमाण हैं, अन्यथा नहीं।



वेदविषय-विचार

वेदों में मुख्य विषय चार हैं। (१) विज्ञान काण्ड, (२) कर्म काण्ड, (३) उपासना काण्ड, (४) ज्ञान काण्ड। इन्हीं चार विषयों के अङ्गरूप में और भी नाना विषयों का वर्णन वेदों में हुआ है।

विज्ञानकाण्ड और ज्ञानकाण्ड

विज्ञान काण्ड में परमेश्वर से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों का जो साक्षात्कार (योग्य विधि से साक्षात् अनुभव) रूपी बोध है उसका वर्णन होता है। विज्ञान का प्रधान प्रयोजन है परमेश्वर का साक्षात्कार। परमेश्वर की प्राप्ति के उद्देश्य से निष्काम-कर्मों अर्थात् आसक्तिरहित कर्मों का करना तथा परमेश्वर की उपासना—ये भी "विज्ञान" के ही अङ्ग हैं। जिन कर्मों के करने में सांसारिक लाभ मुख्य ध्येय होता है उन्हें सकाम कर्म कहते हैं। सकाम कर्म विज्ञान के अङ्ग नहीं होते। सांसारिक पदार्थों के गुणधर्मों को जानना और उनसे यथावत् उपयोग लेना "ज्ञान" कहलाता है। ज्ञान काण्ड में इसी ज्ञान का वर्णन होता है, अर्थात् लौकिक ज्ञान का। ज्ञान काण्ड सम्बन्धी कर्मों को सकाम कर्म कहते हैं।

परा-विद्या और अपरा-विद्या

वेदों के विषयों को अन्य प्रकार से भी विभक्त किया जाता है। परा-विद्या और अपरा-विद्या। विज्ञान का दूसरा नाम परा-विद्या है, और ज्ञान का दूसरा नाम अपरा-विद्या है। परा-विद्या अपरा-विद्या से अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योंकि अपरा-विद्या का भी अन्तिम प्रयोजन परा-विद्या ही है। परा-विद्या में ब्रह्म का जाप और उसकी उपासना 'ओ३म्' द्वारा की जाती है। क्योंकि 'ओ३म्' ब्रह्म का निज नाम है।

वेदों में अवान्तर रूप से नाना विषयों का वर्णन हुआ है। परन्तु चारों वेदों का मुख्य तात्पर्य ईश्वर का ज्ञान और ईश्वर की प्राप्ति

कराने में ही है। सब वेदमन्त्रों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है, कहीं साक्षात् रूप से और कहीं परम्परा से। इसी कारण परब्रह्म वेदों का परम-अर्थ है, अर्थात् मुख्य-अर्थ है। परब्रह्म से पृथक् जो यह जगत् और जगत् के पदार्थ हैं वे वेदों के गौण-अर्थ हैं।

कर्मकाण्ड

वेदों में कर्मकाण्ड का भी वर्णन है। कर्मकाण्ड क्रियाप्रधान होता है। इसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते। धर्म का ज्ञान और उसका यथावत् अनुष्ठान तथा धर्मपूर्वक अर्थ और काम की सिद्धि करना कर्मकाण्ड का प्रधान विषय है। कर्मकाण्ड के दो भेद मुख्य हैं। एक परमार्थ और दूसरा लोकव्यवहार। परमार्थ में परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है। स्तुति में परमेश्वर के सर्वज्ञत्व आदि गुणों का कीर्तन, उपदेश और श्रवण होता है। प्रार्थना में परमेश्वर की सहायता माँगनी होती है। उपासना में परमेश्वर के स्वरूप में मग्न होकर उसकी आज्ञा का यथावत् पालन करना होता है। परमार्थ में निष्कामकर्म किये जाते हैं। निष्काम में परमेश्वर की ही प्राप्ति के उद्देश्य से धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान करना होता है। इसमें संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती।

कर्मकाण्ड का दूसरा भेद लोकव्यवहार है। लोकव्यवहार में सकाम-कर्म किये जाते हैं। जब संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त कर्म किये जाते हैं तो इन्हें सकामकर्म कहते हैं। सकाम-कर्मों का फल नाशवान् होता है। अग्निहोत्र आदि कर्म भी जब परमात्मप्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं तब वे निष्काम-कर्म कहलाते हैं। और जब वायु और वृष्टिजल की शुद्धि आदि के उद्देश्य से किये जाते हैं तब इन्हें सकाम-कर्म कहते हैं। होम से वायु, जल और ओषधि आदि शुद्ध हो जाते हैं, शरीर का स्वास्थ्य और नीरोगता बढ़ती है तथा सब जगत् को सुख मिलता है।

वायु, जल आदि की शुद्धि के दो साधन हैं। एक ईश्वरीय और दूसरा मनुष्यकृत। ईश्वर ने अग्नि रूप सूर्य और सुगन्ध रूप पुष्पादि

पदार्थों को उत्पन्न किया है। इन द्वारा जगत् की शुद्धि होती रहती है। सुगन्धरूप पुष्पादि द्वारा जल वायु शुद्धि यथावत् नहीं हो सकती। क्योंकि इस द्वारा तो वायु और जल में सुगन्धांश तथा दुर्गन्धांश दोनों परस्पर मिले-जुले रहते हैं। परिणाम यह होता है कि वृष्टिजल, वायु, ओषधियाँ, वीर्य, शरीर, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि भी मध्यम गुणवाले ही रहते हैं।

सुगन्ध और दुर्गन्ध का मेल ईश्वरीय सृष्टि के कारण नहीं होता। अपितु यह दोष मनुष्यकृत है। जहाँ जितने मनुष्यादि समुदाय अधिक होते हैं वहाँ उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। यह दुर्गन्ध मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है। गौ, भैंस आदि प्राणियों के समुदायों को मनुष्य ही अपने सुख के लिए इकट्ठा करते हैं। इसलिए इन पशुओं के कारण भी जो दुर्गन्ध उत्पन्न होता है उसके कारण भी मनुष्य ही हैं। जब वायु और वृष्टिजल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तब उसका निवारण करना भी मनुष्यों का ही कर्त्तव्य है। इसलिए सबके उपकार के लिए यज्ञों के करने की आज्ञा मनुष्यों को वेदों द्वारा दी है।

कई लोग कहते हैं कि घृत तथा मिष्ठान्न आदि पदार्थों को अग्नि में डालने से उन पदार्थों का विनाश क्यों किया जाए। ये उत्तमोत्तम पदार्थ मनुष्यों को यदि भोजनादि के लिए दें तो अधिक उपकार हो सकता है। इसलिए होम आदि यज्ञों का करना व्यर्थ है।

इसका समाधान यह है कि घृत आदि पदार्थ अग्नि में डालने से उनका विनाश नहीं होता, अपितु अग्नि के कारण उन पदार्थों के सूक्ष्म अवयव अलग होकर, वायु में फैलकर, वायु में रहते और दुर्गन्ध तथा रोग के कीटाणुओं का निवारण करते हैं। इससे वायु और वृष्टिजल शुद्ध होते और जगत् का महान् उपकार होता तथा जगत् को सुख मिलता है। अतर और पुष्प आदि द्वारा इनका सुगन्ध तो वायु के दुर्गन्ध के साथ मिला-जुला ही रहता है। यह सुगन्ध दुर्गन्ध का छेदन-भेदन नहीं कर सकता और न घर की गन्दी वायु को बाहर निकाल सकता है, और न ऊपर आकाश में अधिक दूरी तक जा सकता है,

क्योंकि इसमें हलकापन नहीं होता। अतर आदि द्वारा घर की दुर्गन्धित वायु न घर से बाहर निकलती है, न बाहर की शुद्ध वायु का घर में प्रवेश होता है। इस प्रकार सुगन्धयुक्त तथा दुर्गन्धयुक्त वायु के घर में बने रहने से रोग-नाश आदि फल भी नहीं होते। अग्नि तो वायु को हलका करके दुर्गन्धयुक्त वायु को घर से बाहर निकाल देती है, और रिक्त हुए स्थान में बाहर की शुद्ध वायु का प्रवेश हो जाता है। यह फल यज्ञों द्वारा ही हो सकता है। यज्ञ के द्रव्यों से उत्पन्न शुद्ध वायु पूर्वस्थित दुर्गन्धित वायु को घर से निकाल देती, घर में शुद्ध वायु को भर देती और इस प्रकार रोगों का विनाश कर देती है। अग्नि द्वारा सुगन्धि आदि द्रव्यों के सूक्ष्म अवयव होकर आकाश में जाकर वृष्टिजल और वायु को शुद्धकर वृष्टि भी अधिक करते हैं। शुद्ध जल और शुद्ध वायु के द्वारा अन्नादि ओषधियाँ भी शुद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार जगत् में नित्य-प्रति अधिकाधिक सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के बिना दूसरे प्रकार से होना असंभव है।

होम करने से द्रव्य का विनाश नहीं होता। कारण यह कि किसी पुरुष ने दूर देश में यदि सुगन्ध वस्तुओं का अग्नि में होम किया हो तो उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है वह होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य की नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहाँ सुगन्धित वायु है। इससे यह जाना जाता है कि द्रव्यों के अलग-अलग हो जाने में भी स्थूल-द्रव्यों के गुण उनके सूक्ष्म-अवयवों के साथ बने ही रहते हैं। वे सूक्ष्म होकर वायु में फैलकर महान् उपकार करते हैं।

होम करते समय वेदमन्त्रों का उच्चारण इसलिए करते हैं कि इससे वेदों की रक्षा होती है, और ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना होती तथा वेदमन्त्रों में होम के जिन-जिन लाभों का वर्णन हुआ है उनका भी साथ-साथ ज्ञान होता रहता है। तथा वेदमन्त्र कण्ठस्थ हो जाते और आस्तिक भावना दृढ़ होती रहती है।

कर्मकाण्ड के देवता

कर्मकाण्ड में जो यज्ञकर्म हैं उनका मुख्य देवता ईश्वर ही है जिसकी प्राप्ति और प्रसादन के लिए यज्ञकर्मों में आहुतियाँ दी जाती हैं, और उच्चारण किये जानेवाले मन्त्रों द्वारा जिसके गुणों का स्मरण किया जाता है। परन्तु कर्मकाण्ड में यज्ञ शब्द का जब व्यापी अर्थ लिया जाता है तब यज्ञकर्म में अन्य नाना देवताओं का भी परिगणन किया जाता है। इस व्यापी अर्थ में यज्ञ तीन प्रकार के होते हैं। (१) एक तो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ। (२) दूसरा प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त जगत् की रचना और शिल्पविद्या। (३) तीसरा सत्संग अर्थात् परमात्मा और सज्जनों का संग। इन व्यापी अर्थों में अग्नि, वायु, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह, पृथिवी आदि की रचना के नाना तत्त्व; माता, पिता, आचार्य, विद्वान् तथा अतिथि आदि—भिन्न-भिन्न कर्मों के नाना रूप देवता हैं। परन्तु अग्निहोत्र आदि यज्ञों में मुख्य देवता परमेश्वर ही है।

देव या देवता का अर्थ

देव और देवता पर्यायवाची शब्द हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थ और भाव एक ही है। 'देव' शब्द के तीन अर्थ होते हैं। (१) दान देनेवाला, (२) प्रकाश करनेवाला, सत्योपदेश करनेवाला। दान का दाता (३) तो मुख्य एक ईश्वर ही है, जिसने कि जगत् के सब पदार्थ दे रखे हैं। विद्वान् मनुष्य भी विद्या आदि पदार्थों को देने से देव कहलाते हैं। प्रकाश करने से सूर्य आदि लोकों का नाम भी देव है। तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्यासत्य, इत्यादि अर्थों का प्रकाश करने से पाँच इन्द्रियों और मन को भी देव कहते हैं। सत्योपदेश करने से माता, पिता, आचार्य, अतिथि—देव कहाते हैं। परन्तु उपासना में तो इष्टदेव परमेश्वर ही है, जो कि महादानी, सूर्य आदि लोकों का भी प्रकाशक, तथा वेदों द्वारा सत्योपदेश करता है। इसलिए परमेश्वर ही मुख्य देव है।

उपर्युक्त का सार

उपर्युक्त सूर्य आदि; ५ इन्द्रियाँ तथा मन; तथा माता, पिता, आचार्य आदि; सांसारिक व्यवहारों की सिद्धि में, अर्थात् सांसारिक कर्मकाण्ड में देव कहाते हैं। परन्तु यज्ञकर्मों, उपासना और विज्ञान-काण्ड में एकमात्र परमेश्वर ही सबका इष्टदेव है, क्योंकि वही स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना के योग्य है। परन्तु सांसारिक व्यवहारों अर्थात् सांसारिक कर्मकाण्ड में भी इष्ट भोगों की प्राप्ति के लिए ईश्वर ही सहायक और सामर्थ्यदाता है। इसलिए सकामकर्मों में भी ईश्वर का परित्याग नहीं होता। क्योंकि संसार के कार्यों का कारण एक ईश्वर ही है। अतः कारणरूप से सब कार्यों, कर्मों, और व्यवहारों में उसका सम्बन्ध सर्वत्र विद्यमान है। परमेश्वर के ही प्रकाशन, धारण, और उत्पादन सामर्थ्य से व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इन व्यावहारिक देवों का जन्म तथा कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से ही होता है। परमेश्वर ने जिस-जिस पदार्थ में जितना-जितना दिव्यगुण रखा है उतना-उतना ही उस-उस पदार्थ में देवपन है, अधिक नहीं। अतः उन सबका उत्पादन, धारण, तथा प्रकाशन करने से केवल परमेश्वर ही एक मुख्य देव है।

३३ देव

वेदों तथा सत्यशास्त्रों में व्यवहार-सिद्धि के हेतुभूत ३३ देव मानें हैं। वे हैं ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति। ८ वसु हैं अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र। ये आठों पदार्थ सबके वास (रहने) के हेतु हैं इसलिए इन्हें 'वसु' कहते हैं।

११ रुद्र हैं शरीर में १० प्राण और ११वां जीवात्मा। शरीर से १० प्राण और जीवात्मा जब निकल जाते हैं और प्राणी की मृत्यु हो जाती है तब ये सम्बन्धियों को रुलाते हैं। अतः रोदन कराने से इन ११ शक्तियों को 'रुद्र' कहते हैं।

१२ आदित्य हैं १२ महीने। ये १२ महीने सबकी आयु का 'आदान' करते रहते हैं, अर्थात् क्षय करते रहते हैं, इसलिए इनका नाम 'आदित्य' है (आदित्य=आदान करनेवाले, हरनेवाले, क्षय करनेवाले)। इसी प्रकार इन्द्र अर्थात् बिजुली, और प्रजापति अर्थात् यज्ञ के ये दो और देवता हैं। बिजुली ऐश्वर्यदाता है इसलिए इन्द्र है (इदि परमैश्वर्ये)। 'यज्ञ' वायुशुद्धि तथा वृष्टि प्रदान का हेतु होने से प्रजाओं का पालक है, इसलिए प्रजापति है। इस प्रकार ८+११+१२+१+१=३३ व्यवहार-सिद्धि के हेतु देवता हैं, इन्हीं के आश्रय संसार का व्यवहार चल रहा है।

परन्तु स्तुति, प्रार्थना और उपासना के योग्य तो एकमात्र ब्रह्म ही है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "जो मनुष्य ईश्वर से भिन्न दूसरे किसी तत्त्व की उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता, वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधों के समान है। यथा—"योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद। यथा पशुः एवं स देवानाम्"।

वेदों में व्यवहारसिद्धि के हेतुभूत अग्नि आदि प्राकृतिक देवों का जब वर्णन होता है तब इन वर्णनों में भी सर्वत्र परमात्मसत्ता अन्वित हुई समझी जानी चाहिये। क्योंकि अग्नि आदि प्राकृतिक देव परमेश्वर की ही व्यापकता और रचनाशक्ति द्वारा दिव्य गुणोंवाले हुए हैं। अग्नि आदि पदार्थों में जितना-जितना प्रकाश है, तथा इनमें जितने-जितने दिव्य गुण हैं उतना-उतना उनमें देवपन भी है—इस बात के मानने में कोई हानि नहीं। परन्तु वेदों में जहाँ-जहाँ उपासना का वर्णन हुआ है वहाँ-वहाँ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण करना उचित है।

मूर्त्तिमान् तथा मूर्त्तिरहित देवता

देवता दो प्रकार के हैं—एक मूर्त्तिमान् और दूसरे अमूर्त्तिमान् अर्थात् मूर्त्तिरहित। माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार मूर्त्तिमान् देवता हैं और ब्रह्म अमूर्त्तिमान् देवता है। पूर्वोक्त आठ वसुओं में अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र,—ये मूर्त्तिमान् देवता हैं। यथा ११ रुद्र, १२ आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौः, मन्त्र—ये मूर्त्तिरहित

देवता हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, बिजुली, और यज्ञ—ये देवता मूर्त्तिमान् और मूर्त्तिरहित अर्थात् दोनों प्रकार के देवता हैं।

उपासनाकाण्ड

कई विचारक यह कहते हैं कि वेदों में पृथिवी आदि जड़ पदार्थों की पूजा कही गई है। वे कहते हैं कि पहिले आर्य लोग पृथिवी आदि पंचभूतों की ही पूजा करते थे। कालान्तर में आर्यों ने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था। परन्तु यह कथन असत्य है। आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से ही आज पर्यन्त इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि नामों द्वारा एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं। इस सम्बन्ध में वेदों तथा शास्त्रों में नाना प्रमाण मिलते हैं। यथा—

[१]

ओ३म् इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋ० १। १६४। ४६)

अर्थात् जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म है, विद्वान् लोग उसी के नाम इन्द्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं।

[२]

एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

(मनु० १२, १२३)

अर्थात् प्रकाश-स्वरूप होने से वह परमेश्वर अग्नि है, विज्ञानस्वरूप होने से मनु, सबका पालन करने से प्रजापति, परमैश्वर्यवान् होने से इन्द्र, सबका जीवनमूल होने से प्राण, और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम ब्रह्म है।



ब्रह्मविद्या-विचार

ब्रह्म का अर्थ है "सब से बड़ा"। परमेश्वर सबसे बड़ा है, अतः वह ब्रह्म है। ब्रह्म जगत् का रचयिता, पालक, आकाशादि पञ्चभूतों[1] तथा सूर्यादि लोकों में व्यापक, सच्चिदानन्द-स्वरूप, सबसे महान् विज्ञानादि गुणों में सबसे बड़ा, आकाश आदि का भी आधार, सदा निर्विकार, तथा ३३ देवताओं का आश्रय है। जैसे वृक्ष का तना सब डालियों का आधार होता है वैसे ही सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक ब्रह्म है। ब्रह्म एक ही है, अनेक ब्रह्म नहीं हैं। ब्रह्म दो, तीन, चार, दस, बीस आदि नहीं हैं। अद्वैतवादी जो यह दावा करते हैं कि 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, उनका यह दावा मिथ्या है। एक ही ब्रह्म सब जगत् का नियन्ता तथा अधीश्वर है। इसी ब्रह्म के सामर्थ्य में पृथिवी आदि सब लोक ठहरे हुए हैं। और प्रलय में भी उसीके सामर्थ्य में लीन होकर उसी में बने रहते हैं।



१. पंचभूत=पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश।

मुक्ति-विषय

मुक्ति का अर्थ है "छूट जाना"। अर्थात् शरीर, इन्द्रियों और मन के बन्धन से छूट जाना। परमेश्वर की उपासना करके, तथा अविद्या अहंकार, राग, द्वेष और मृत्युभय इन पाँचों का निवारण करके, जीव मुक्ति को प्राप्त होता है। अहंकार, राग, द्वेष और मृत्युभय—इनका मूल अविद्या है। अहंकार आदि चार अविद्या के प्रमाण हैं। इन पाँचों की शास्त्रीय संज्ञा 'क्लेश' है। इन्हें पंच क्लेश कहते हैं। क्योंकि इन पाँचों के कारण मनुष्य क्लेश अनुभव करता है। 'अविद्या' मोहग्रस्त जीवों को अन्धकार में फँसाकर जन्म-मरण आदि दुःखसागर में डुबाती है। सत्यविद्या के द्वारा, अविद्या छिन्न-भिन्न होकर, जब नष्ट हो जाती है, तब जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।

अविद्या के चार रूप

अविद्या के चार रूप हैं। (१) शरीर आदि स्थूल पदार्थों तथा लोक-लोकान्तरों को नित्य समझना, तथा ईश्वर, जीव और जगत् के कारण 'प्रकृति'—इन तीनों को अनित्य समझना। (२) मलमूत्र आदि से परिपूर्ण दुर्गन्धरूप शरीर को पवित्र समझना, तथा सत्यभाषण, सत्सङ्ग, परमेश्वर की उपासना, सबसे प्रेमभाव में वर्तना आदि शुद्ध व्यवहारों को अपवित्र समझना। (३) दुःख में सुखबुद्धि करना अर्थात् विषय-तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख-प्राप्ति की आशा करना, तथा जितेन्द्रियता, शम, सन्तोष, विवेक, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि का करना। (४) इसी प्रकार अनात्मा को आत्मा समझना, अर्थात् जड़ को चेतन समझना तथा चेतन को जड़ समझना।

यह चार प्रकार की अविद्या, संसार-बन्धन का हेतु होकर, संसार में अज्ञानी जीवों को सदा नचाती रहती है।

विद्या के चार रूप

परन्तु पूर्वोक्त अनित्य, अशुद्धि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मबुद्धि करना, तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्र, सुख, आत्मबुद्धि करना—यह चार प्रकार की विद्या है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तब बन्धनों से छूटकर जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

अहङ्कार का स्वरूप

जीव और चित्त को अभिन्न समझना, अर्थात् ये दो पदार्थ भिन्न-भिन्न नहीं हैं, अपितु ये दोनों एक हैं ऐसा समझना—अहंकार कहाता है। योग-शास्त्र में इसे 'अस्मिता' कहते हैं। अस्मिता का अर्थ है "मैं हूँ" ऐसी भावना।

राग और द्वेष

सांसारिक सुखों के लिए जो तृष्णा अर्थात् लोभ है उसे राग कहते हैं। जब मनुष्य को ऐसा ज्ञान हो जाता है कि सभी सांसारिक संयोगों का अन्ततः वियोग होना होता है, तथा सभी सांसारिक वृद्धियों का अन्त में क्षय होना होता है तब राग की निवृत्ति हो जाती है।

जब राग निवृत्त हो जाता है तब द्वेष की निवृत्ति स्वयं हो जाती है।

मृत्युभय

मृत्युभय का शास्त्रीय नाम 'अभिनिवेश' है। छोटे-छोटे कृमियों को भी मृत्यु का भय बराबर बना रहता है। मूर्खों और विद्वानों में भी मृत्युभय बराबर दीखता है।

अविद्या का नाश और मोक्ष

जब अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की सब भावनाएँ दूर हो जाती हैं। फिर जन्म का बन्धन टूट जाता है, और सब दुःखों का

अत्यन्त अभाव हो जाता है । दुःखों का अभाव हो जाने पर सब दिनों के लिए परमात्मा के साथ आनन्द-ही-आनन्द भोगना होता है, इसे ही 'मोक्ष' कहते हैं ।

मुक्त जीवों की परिस्थिति

मुक्त जीव परमेश्वर को पाकर, उसी की उपासना करते हुए, उसीके आश्रय में रहते हैं । मुक्त जीवों का जाना-आना लोकलोकान्तरों में होता है । उनके लिए कहीं रुकावट नहीं रहती, और उनकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ।

मोक्ष को प्राप्त हुए मनुष्य को पूर्णमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं, और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक-दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते रहते हैं ।

मुक्त जीव मोक्ष को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहते हैं और 'तृतीय धाम' में अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान मनवाले होकर सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं ।



पुनर्जन्म विषय

वेदों में पुनर्जन्म के लिए तथा पुनर्जन्म में श्रेष्ठशक्तियों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रार्थनाएँ मिलती हैं। इनसे पुनर्जन्म का सिद्धान्त परिपुष्ट होता है। यथा—हे परमेश्वर! आप कृपा करके पुनर्जन्म में हममें उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियाँ स्थापित कीजिये। हे जगदीश्वर! इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम-उत्तम भोगों को प्राप्त हों। हे सबको मान देने हारे! सब जन्मों में हम लोगों को आप सुखी रखिये। (ऋ० प्र० ८, अ० १, व० २३, मं० १)

हे सर्वज्ञ ईश्वर! जब-जब हम जन्म लेवें तब-तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रेय प्राप्त हों। विश्वनियन्ता परमेश्वर सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे, तथा बुरे कर्मों और सब दुःखों से हमें अलग रखे। (यजु० ४। १५)

हे जगदीश्वर! आपकी कृपा से पुनर्जन्म में हमें मन आदि ११ इन्द्रियाँ प्राप्त हों। वेद में और आप में हमारी निष्ठा बनी रहे, और उपकार के अर्थ हम अग्निहोत्र आदि यज्ञ करते रहें। पुनः मनुष्य-देह को धारण करके धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को सदा सिद्ध करके आपकी भक्ति प्रेम से किया करें। (अथर्व० ७। ६७। १)

जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है उस धर्माचरण के फलरूप में वह अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है, और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीरों को प्राप्त करता है।

पूर्वजन्म में किये पाप-पुण्य के फलों को भोगनेवाला जीवात्मा पूर्व शरीर को छोड़कर वायु के साथ रहता है। फिर जल, ओषधि आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है। तदनन्तर मातृयोनि में स्थिर होकर पुनर्जन्म लेता है। जो जीव नित्यवेदवाणी को यथावत् जानकर बोलता है, और धर्म में ही यथावत् स्थिर रहता है वह मनुष्य योनि

में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है, और जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीरों अर्थात् कीट, पतंग, पशु आदि के शरीर को धारण कर अनेक दुःखों को भोगता है।

(अथर्व० ५। १। २)

जन्म के दो प्रकार

जन्म दो प्रकार के होते हैं। (१) मनुष्य शरीर का धारण करना, (२) नीचगति से पशु-पक्षी, कीट-पतंग वृक्ष आदि के रूप में उत्पन्न होना। इनमें से मनुष्य शरीर के तीन भेद हैं। एक "पितृ" अर्थात् साधारण ज्ञानी होना, दूसरा "देव" अर्थात् सब विद्याओं को पढ़कर विद्वान् होना, तीसरा "मर्त्य" अर्थात् साधारण मनुष्य शरीर का धारण करना।

इनमें मनुष्य-शरीर पुण्यात्माओं और तुल्य पाप-पुण्यवालों को मिलता है और कीट आदि का शरीर उन्हें मिलता है जो जीव अधिक पाप करते हैं। इन्हीं भेदों से जगत् के सब जीव अपने-अपने पुण्यों और पापों के फल भोग रहे हैं।

निरुक्त और पुनर्जन्म

निरुक्त में यास्काचार्य ने लिखा है कि "जब मनुष्य को ज्ञान हो जाता है तब वह ठीक-ठीक जानता है कि मैंने अनेक वार जन्म-मरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारों गर्भाशियों का सेवन किया, अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तनों का दूध पिया, अनेक माता-पिता और सुहृदों को देखा, मैंने गर्भ में नीचे मुख और ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होकर अनेक जन्म धारण किये हैं।"

(निरु० १४। ६)

योगदर्शन और पुनर्जन्म

योगदर्शन में भी पुनर्जन्म का विधान है। इसमें लिखा है कि "प्रत्येक प्राणी की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि मैं सदैव सुखी बना रहूँ, मरूँ नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि मैं बना न

रहूँ । यह मृत्युभय तथा सुखप्राप्ति की चेष्टा कृमिपर्यन्त सब प्राणियों में बद्धमूल है । इसके द्वारा पूर्वजन्मों की सिद्धि होती है । क्योंकि प्रत्येक प्राणी ने पूर्वजन्म में यदि सुख-दुःख का अनुभव न लिया होता तो वर्तमान जीवन में वह सुख की इच्छा क्यों करता, तथा दुःख से बचने की चेष्टा क्यों करता ? (योग० पा० २, सू० ६)

पूर्वजन्म के सम्बन्ध में अन्य चर्चा

पूर्वजन्मों के होते हुए भी हमको उनका ज्ञान इस जन्म में नहीं होता । जब इसी जन्म में जो-जो सुख हमने शैशवावस्था में भोगे हैं उनका ज्ञान नहीं रहता, तथा हम जो नित्य पठन-पाठन और व्यवहार करते हैं उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी उन्हें हम भूले रहते हैं । इस प्रकार जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में हम भूल जाते हैं तब पूर्वजन्म के शरीरों के व्यवहारों का ज्ञान हमें कैसे रह सकता है ?

कई लोग कहते हैं कि जब हमको पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों का ज्ञान नहीं होता, और ईश्वर उनका फल सुख वा दुःख देता है,—तो इससे ईश्वर का न्याय, वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता । इसका उत्तर यह है कि ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण सुख वा दुःख कभी नहीं देता । जब हमको पाप-पुण्य का कार्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है तब हमको ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म में पाप-पुण्यों के बिना उत्तम, मध्यम तथा नीच शरीर, तथा इसी प्रकार की बुद्धि आदि साधन कभी नहीं मिल सकते । इससे हम निश्चयपूर्वक जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् हो रहे हैं ।



वेदोक्त धर्म विषय

१. संग, संवाद, ज्ञानप्राप्ति

परमेश्वर उपदेश देता है कि हे मनुष्यो ! तुम सब परस्पर के विरोध को छोड़कर एक-दूसरे की संगति में रहा करो। विरुद्धवाद को छोड़कर परस्पर प्रीति के साथ पढ़ना-पढ़ाना तथा परस्पर प्रश्नोत्तर सहित संवाद किया करो। अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो, जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त हो। जैसे पक्षपात-रहित धर्मात्मा विद्वान् वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं उसी प्रकार तुम भी किया करो। (ऋ० अ० ८, अ० ८, व० ४९, मं० २)

एकता

तुम्हारा विचार एक हो, किसी प्रकार का विरोध न हो। उत्तम मनुष्यों की सभा द्वारा राज्यप्रबन्ध यथावत् किया करो, वह सभा तुम सबकी एक हो। तुम्हारे मन आपस में विरोध-रहित होकर सबके दुःखों के विनाश और सुखों की वृद्धि के लिए पुरुषार्थवाले हों। पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार करनेवाले तुम्हारे चित्त भी एक से हों। तुम्हारे मन और चित्त सब मनुष्यों के सुख के लिए प्रयत्नशील हों। मैं परमेश्वर तुम सबको समान विचार रखने का आशीर्वाद देता हूँ।

(ऋ० अ० ८, अ० ८, व० ४९, मं० ३)

सहयोग

तुम्हारे निश्चय, उत्साह और पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिए सदा हों, तुम्हारे हृदय परस्पर प्रेमसहित और विरोधरहित हों। अपने मनों को सबके सुखों और हित के लिए प्रयुक्त किया करो। पारस्परिक सहायता और सहयोग की भावनाओं को सदा बढ़ाया करो। सबको सुखी करके अपनी आत्मा को सुखी जानो।

(ऋ० अ० ८, अ० ८, व० ४९, मं० ४)

२. सत्य और असत्य, श्रद्धा और अश्रद्धा

जगत् के पति परमेश्वर ने सत्य अर्थात् धर्म और असत्य अर्थात् अधर्म को यथावत् जानकर उनके स्वरूपों का भेद वेदों द्वारा दर्शाया है। इसलिए सबको सत्य में भाषण और असत्याचरण में अश्रद्धा को स्थापित किया है, और सत्यभाषण और सत्याचार में श्रद्धा को स्थापित किया है। यह श्रद्धा और अश्रद्धा मनुष्यों में परमेश्वर ने स्वभावतः दे रखी है। (यजु० १९। ७७)

३. सर्वभूतमैत्री

परमेश्वर राग-द्वेष की गाँठों को काटनेवाला है। उससे दृढ़ता की प्रार्थना करनी चाहिये कि हम सब आपस में वैरभाव को छोड़कर एक-दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्तें। सब प्राणी प्रत्येक व्यक्ति को अपना मित्र जानकर उसके साथ बन्धु समान वर्ता करें। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति सब प्राणियों को अपना मित्र जाने, और हानि-लाभ तथा सुख-दुःख में, अपनी आत्मा के तुल्य सब प्राणियों को जाने। इस प्रकार सब लोग आपस में मिलकर सदा मित्रभाव से रहा करें। (यजु० ३६।१८)

४. सत्य का व्रत

परमेश्वर व्रतों का पति है। उससे शक्ति की प्रार्थना करनी चाहिये कि हे व्रतपति ! मैं भी व्रताचरण करना चाहता हूँ, मुझे आप कृपा-पूर्वक शक्ति प्रदान कीजिये, ताकि मैं अपने व्रत का पालन कर सकूँ, मेरे इस व्रतानुष्ठान को आप कृपापूर्वक सिद्ध कीजिये। मैं यह व्रत धारण करता हूँ कि मैं असत्य कर्मों को छोड़कर सत्य के आचरण में सदा दृढ़ रहूँ। (यजु० १। ५)

मनुष्य के लिए उचित है कि उसमें जितना सामर्थ्य है उतना पुरुषार्थ पहिले अवश्य कर ले। उसके उपरान्त ईश्वर की सहायता की याचना करे। जो मनुष्य सत्यभावना और पुरुषार्थ से सत्याचरण करना चाहता है उसी पर ईश्वर भी दया करता है, अन्य पर नहीं। जैसे-जैसे मनुष्य सत्यव्रत का अनुष्ठान करने लगता है वैसे-वैसे उसमें सत्यव्रत के अनुष्ठान में अधिकाधिक शक्ति प्राप्त होने लगती है, और उसका

व्रतानुष्ठान में अधिकार बढ़ने लगता है। तदनन्तर उसे व्रतानुष्ठान का फल भी प्रत्यक्ष होने लगता है। इस प्रकार व्रतानुष्ठान में उसकी श्रद्धा बढ़ती चली जाती है। व्रतानुष्ठान में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उसे सत्य की प्राप्ति भी उसी मात्रा में अधिकाधिक होती जाती है। (यजु० १९ । ३०)

५. अन्य सद्गुणों का अनुष्ठान

मनुष्यों को परिश्रम, प्रयत्न, पुरुषार्थ तथा धर्मकर्मों का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए। तप अर्थात् कष्ट सहन करके भी धर्म का अनुष्ठान करना, वेदविद्या द्वारा अपने को बढ़ाना, धर्मपूर्वक वित्तोपार्जन करना, सत्यज्ञान में निष्ठा, ब्रह्मोपासना, सत्य की परीक्षा करके सत्य का आचरण करना, यश अर्थात् उत्तम कीर्ति—इन सबकी प्राप्ति सब मनुष्यों को करनी चाहिये। (अथर्व० कां० १२। अनु० ५। मं० १, २)

सब मनुष्य अपने में शुभ गुणों का धारण करें। श्रद्धा से भरपूर हों। विद्वानों से सत्यशिक्षा पाकर रक्षा को प्राप्त हों। परमेश्वरोपासना होम द्वारा संसार का उपकार तथा शिल्पविद्या की सिद्धि—इन तीन प्रकार के यज्ञों में सब यथावत् प्रवृत्ति करें, तथा मृत्युपर्यन्त लोकसेवा में तत्पर रहें। (अथर्व० कां० १२। अनु० ५। मं० ३)

सहनशक्ति, बल की प्राप्ति, सत्य-और-मधुर भाषण, इन्द्रियों की पापकर्म से रक्षा आदि धर्मों का सदा उपार्जन करना चाहिये।

(अथर्व० कां० १२। अनु० ५। मं० ७)

ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति का उपार्जन, राष्ट्रसेवा, शरीर की कान्ति, नियमपूर्वक जीवन व्यतीत कर आयु को बढ़ाना, शारीरिक स्वच्छता, प्राणायाम, नानाविध रसों का यथावत् सेवन, इष्ट पदार्थों का संग्रह, संतानों का पालन, पढ़ना-पढ़ाना प्रतिदिन अग्निहोत्र, अतिथि सेवा, मनुष्यसेवा, आचार्य विद्वानों तथा माता-पिता इनको देव जानकर इनकी पूजा तथा सेवा करना, दान देना—ये दैनिक कर्त्तव्य हैं, इनका सदा पालन करते रहना चाहिए।

(अथर्व० कां० १२, अनु० ५, सू० ५, खं० २, मं० ८-१०)

वर्णव्यवस्था विषय

चार वर्णों के गुण-कर्म

सब मनुष्यों की एक जाति है, अर्थात् मनुष्य-जाति। मनुष्य-जाति चार वर्णों में विभक्त होती है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन का नाम "वर्ण" इसलिए है कि जैसे जिसके गुणकर्म हों वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिए। गुण-कर्मों के अनुसार ही वर्ण 'वरा' जाता है। वेदाध्ययन और परमेश्वर की उपासना के साथ वर्तमान तथा विद्या आदि उत्तम गुणों से युक्त पुरुष को ब्राह्मण कहते हैं। ऐश्वर्य, बल, वीर्य, शौर्य आदि गुणों से सम्पन्न पुरुष को क्षत्रिय कहते हैं। लेन-देन, व्यापार, पशुपालन तथा कृषि आदि के कर्मों में कुशल मनुष्य को वैश्य, और शिल्पविद्या के जाननेवाले तथा सेवा में कुशल अज्ञानी मनुष्य को शूद्र कहते हैं।

मनुष्य-जाति के दो भेद

मनुष्य-जाति के दो भेद अन्य प्रकार से भी किये जाते हैं, आर्य और दस्यु। श्रेष्ठ मनुष्यों को आर्य कहते हैं, और दुष्ट स्वभाव से युक्त डाकू आदि को दस्यु कहते हैं। इन्हें ही देव और असुर भी कहते हैं। अर्थात् आर्यों को देव तथा दस्युओं को असुर कहते हैं।

वर्ण-परिवर्तन

मनुस्मृति[1] (अ० १०, श्लो० ६५) में लिखा है कि 'शूद्र' ब्राह्मण हो जाता है, और 'ब्राह्मण' शूद्र हो जाता है। अर्थात् गुण-कर्मों के अनुसार ब्राह्मण हो तो वह ब्राह्मण रहता और ब्राह्मण यदि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणों वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता, और जो

---

१. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

उत्तम गुणों से युक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना चाहिये। जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता? वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है। जो-जो पदार्थ ईश्वर ने रचे हैं वे सब के उपकारार्थ हैं। मूर्ख का नाम शूद्र, और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है। इनमें विद्याग्रहण की बुद्धि ही नहीं होती। स्त्रियों को भी वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-सुनने का समान अधिकार है। यजुर्वेद[1] में लिखा है कि "वेदों को पढ़ने का अधिकार सब मनुष्यों का है" और विद्वानों को उनके पढ़ाने का भी अधिकार है। ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार मैं (परमेश्वर) तुम को चारों वेदों का उपदेश देता हूँ उसी प्रकार तुम भी उनको पढ़कर सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो। क्योंकि यह वेद रूपी वाणी सबका कल्याण करनेवाली है। वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण के लिए है वैसा ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिए भी बराबर है।

वर्णपरिवर्तन के सम्बन्ध में यह निश्चितरूप से जान लेना चाहिये कि २५वें वर्ष में वर्णों का-अधिकार ठीक-ठीक होता है। क्योंकि २५ वर्षों तक बुद्धि बढ़ती है। इसलिए उसी समय गुणकर्मों की ठीक-ठीक परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है। 'आपस्तम्बधर्मसूत्र'[2] में लिखा है कि धर्माचरण से नीचे के वर्ण पूर्व-पूर्व वर्ण के अधिकार को प्राप्त होते हैं, और अधर्माचरण करके पूर्व-पूर्व वर्ण नीचे-नीचे के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं।

---

१. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥
(यजु० २६। २)

२. धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ। अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
(प्रश्न २, पटल ५, खं० ११, सू० १०, ११)

आश्रम-व्यवस्था विषय

चार आश्रमों पर सामान्य विचार

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ५ या ८ वर्ष की आयु से लेकर ४८ वर्षों की आयु पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम का समय है। ब्रह्मचर्याश्रम सुशिक्षा और सत्यविद्या के ग्रहण के लिए होता है।

दूसरा गृहस्थाश्रम है। यह उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति, श्रेष्ठ सन्तानों की उत्पत्ति और उन्हें सुशिक्षित करने के लिए धारण किया जाता है।

तीसरा वानप्रस्थाश्रम है। यह ब्रह्म-विद्या के साक्षात् करने के लिए तथा एकान्त में परमेश्वर का सेवन करने के लिए लिया जाता है।

चौथा आश्रम संन्यास है जो कि मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए तथा सत्योपदेश द्वारा सब संसार के उपकार के लिए धारण किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिए इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है।

ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम जोकि सब आश्रमों का मूल है उसके ठीक-ठीक सुधरने से सब आश्रम सुधरते, और उसके बिगड़ने से सब आश्रम बिगड़ते हैं। माता के गर्भ में बसकर मनुष्य का जो जन्म होता है वह प्रथम-जन्म कहलाता है, और दूसरा जन्म वह है जिसमें कि 'आचार्य' पिता और 'विद्या' माता होती है। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन प्राप्त नहीं होता। इसी दूसरे जन्म के कारण मनुष्य को द्विजन्मा या द्विज कहा जाता है। पाँच या आठ वर्षों की आयु में जब बालक और बालिकाएँ पढ़ानेवाले के समीप रहते हैं तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी हो जाता है, क्योंकि तबसे वे ब्रह्म अर्थात् वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। ब्रह्मचारी को तप-पूर्वक जीवन व्यतीत करना होता है। ब्रह्मचारी को पृथिवी, सूर्य और अन्तरिक्ष इन तीनों लोकों की विद्याओं को प्राप्त करने की इच्छा होनी चाहिये। ब्रह्मचारी विद्याग्रहण करके पूर्वसमुद्र अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के अनुष्ठान द्वारा उससे पार उतरकर उत्तरसमुद्र अर्थात्

गृहस्थाश्रम को प्राप्त होते हैं। कन्या जब ब्रह्मचर्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके तब युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपने पति के रूप में वरण करे। इसी प्रकार पुरुष भी सुशील, धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह कर, दोनों परस्पर सुख-दुःख में सहायकारी हों।

गृहस्थाश्रम

गृहस्थी स्त्री-पुरुषों को धर्म की उन्नति, तथा ग्रामवासियों के हित के लिए सदा यत्न करते रहना चाहिये। वनवासियों का हित करना, संसार को सुख देने के लिए सभाओं में सत्यासत्य का विचार करना, तथा जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करना आदि श्रेष्ठकर्म करते रहना चाहिये। पाप करने की बुद्धि को मन, वचन और कर्म से छोड़कर सर्वथा सबके हितकारी बनें। सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक-ठीक चलना गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवें वह भी सत्यव्यवहार के साथ किया करें। मिथ्या व्यवहार किसी से न किया करें, क्योंकि जो लोग विचार-पूर्वक सबके हितकारी काम करते हैं उनकी सदा उन्नति होती है। गृहस्थाश्रम की इच्छा करनेवाले मनुष्य स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहस्थाश्रम का सेवन करें। गृहस्थाश्रम में पशुओं का तथा खाने-पीने के योग्य रसयुक्त पदार्थों का संग्रह करना चाहिये। इस प्रकार पारमार्थिक सुख तथा सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिए गृहस्थों से सदा यत्न करते रहना चाहिये।

वानप्रस्थ तथा संन्यास

सब आश्रमों में धर्म के तीन अंग हैं। प्रथम विद्या का अध्ययन, द्वितीय यज्ञ अर्थात् उत्तम कर्मों का करना और तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना। ब्रह्मचर्याश्रम में तपश्चर्यापूर्वक सुशिक्षा तथा धर्मानुष्ठान के निमित्त आचार्य के आश्रम में निवास द्वारा विद्याध्ययन तथा धर्म और ईश्वर के स्वरूपों को निश्चयपूर्वक जानना होता है। गृहस्थाश्रम में उनका अनुष्ठान तथा ज्ञान की वृद्धि करनी होती है। वानप्रस्थाश्रम में अपनी आत्मा को दृढ़ नियमों के नियन्त्रण में रखकर, एकान्त में रहकर, हृदय में परमात्मा का ठीक-ठीक विचारकर,

सत्य और असत्य का निश्चय करना होता है। वानप्रस्थाश्रम समाप्त करके संन्यास ग्रहण करना चाहिये। इस क्रम से संन्यास ग्रहण करना—यह पहला पक्ष है, अर्थात् प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम, तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम, तदनन्तर वानप्रस्थाश्रम और फिर संन्यासाश्रम।

दूसरा पक्ष यह है कि वानप्रस्थाश्रम के विना, गृहस्थाश्रम के बाद संन्यास ग्रहण करना।

तीसरा पक्ष है कि ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्णरूप से समाप्त करके गृहस्थाश्रम व वानप्रस्थाश्रम में विना प्रवेश किये संन्यास ग्रहण करना।

संन्यास-ग्रहण का उद्देश्य है मोक्षप्राप्ति अर्थात् ब्रह्मलोक की प्राप्ति। जो उत्तम तथा पूर्ण विद्वान् हैं वे गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम के विना, ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं। उनके सदुपदेशों से उनके जो धर्मपुत्र हो जाते हैं उन्हें ही वे अपने पुत्र मानकर, सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से रहित हो जाते हैं। धन के लोभ तथा लोकप्रतिष्ठा से भी वे परे रहते हैं और भिक्षाचरण से जीवन-निर्वाह करते हैं। ये संन्यासी सबके गुरु होकर सबके अतिथि के रूप में विचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अंधकार से छुड़ाकर, सत्यविद्या के उपदेश रूपी प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। प्रजापति परमात्मा का भजन कर, शिखा-सूत्र आदि का होमकर, विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करना चाहिये। ऐसा संन्यासी शुद्ध मन से जिस-जिस लोक की कामना करता है वह-वह कामना उसकी सिद्ध हो जाती है।

सारांश

सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये। इस प्रकार पूर्ण विद्या को पढ़कर उससे संसार की उन्नति करने के लिए गृहस्थाश्रम भी अवश्य करें। तथा विद्या और संसार के उपकार के लिए एकान्त में बैठकर, सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है उसका ज्ञान अच्छी प्रकार करें और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें। फिर उनके सब संदेहों का छेदन और सत्य बातों का निश्चय कराने के लिए, संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें, क्योंकि संन्यासाश्रम के विना सम्पूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है।

पञ्च-महायज्ञ विषय

१. ब्रह्मयज्ञ

पञ्चमहायज्ञ मनुष्यों को नित्यप्रति करने चाहिये। पहला महायज्ञ है ब्रह्मयज्ञ। इसमें वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये।

२. देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र

वायु, ओषधि और वर्षाजल की शुद्धि द्वारा सबके उपकार के लिए, घृतादि शुद्ध वस्तुओं और आम्र या ढाक आदि की समिधाओं से, अग्नि को नित्य प्रकाशित करना चाहिये। होम में पुष्टिकारक, मधुर, सुगन्धित तथा रोगनाशक गुणों से युक्त वस्तुओं को अच्छे प्रकार से शुद्ध करके वर्तना चाहिये। अग्निहोत्र करनेवाला ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों का उपकार करनेवाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुँचाने के लिए अग्नि स्थापन करता हूँ। अग्निहोत्र से आरोग्य, शारीरिक पुष्टि और मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। प्रातःकाल और सायंकाल अथवा केवल प्रातःकाल ही नित्य होम करना चाहिये। अग्निहोत्र का नाम देवयज्ञ भी है। क्योंकि वायु, जल, ओषधि आदि देवों अर्थात् दिव्य पदार्थों की शुद्धि और परिपुष्टि के निमित्त अग्निहोत्र किया जाता है। अग्निहोत्र के करने से परमात्मा की प्रसन्नता का लाभ भी होता है।

३. पितृयज्ञ

पञ्चमहायज्ञों में तीसरा महायज्ञ 'पितृयज्ञ' है। इसके दो भेद हैं। एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध। जिस कर्म द्वारा विद्वानों, ऋषियों और पितरों (माता-पिता आदि) को सुखयुक्त करते हैं, उनकी तृप्ति करते हैं, उस कर्म को तर्पण कहते हैं। तथा इन सज्जनों की 'श्रद्धापूर्वक' जो

सेवा करनी है उसे श्राद्ध कहते हैं। यह तर्पण और श्राद्ध जीवितों का ही हो सकता है, मृतकों का नहीं। सब विद्याओं को पढ़कर जो औरों को पढ़ाते हैं उन्हें ऋषि कहते हैं। पिता, पितामह, माता, मातामही आदि और आचार्य तथा इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग—जो कि अवस्था और ज्ञान में बड़े और मान के योग्य हैं—उन्हें पितर कहते हैं। उत्तम-उत्तम जलों, रोगनाशक उत्तम अन्नों तथा उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों द्वारा इन पितरों की नित्य सेवा करनी चाहिये। इन पितरों की इच्छा के अनुकूल पदार्थों द्वारा ही इनकी सेवा करनी चाहिये। ये विद्वान् तथा अनुभवी लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उनके अविद्यारूपी अंधकार को नष्ट करते हैं। पितर लोग जब-जब दर्शन दें तब-तब अभ्युत्थान-पूर्वक नमस्कार और प्रिय वचनों द्वारा उनका सत्कार करना चाहिये। इन्हें उचित स्थान पर बिठलाना तथा खान-पान द्वारा सत्कार करना चाहिये। तदनन्तर उनसे उपदेश के लिए प्रार्थना करनी चाहिये। पितरों की इच्छा के अनुकूल उन्हें भोजन तथा वस्त्रादि देने चाहियें। पितर लोग पक्षपात से रहित होकर, सत्यव्यवस्था में स्वयं चलकर, अपने दृष्टान्त से औरों को भी सत्यव्यवस्था में चलाते हैं। पितर अर्थात् विद्वान् लोग यमराज्य अर्थात् सर्वनियन्ता अन्तर्यामी परमेश्वर के इस राज्य में न्यायाधीश होकर न्याय करें और सबके हित करने में समान बुद्धिवाले हों। इनका लोक अर्थात् वह देश जिसमें कि ये रहते हैं सत्य न्याय को प्राप्त होकर सुखी रहता है। हमें इन पितरों की सेवा करनी चाहिये, क्योंकि ये पितर प्रीतिपूर्वक विद्या आदि के दान से हमको प्रसन्न करते हैं। पितरों से कहना चाहिये कि हे पितरो! आप हमें अपने कल्याणकारी उपदेश दें ताकि हम पाप-कर्म न करें। हम पितरों को निमन्त्रण दिया करें, ताकि वे हमारे समीप आकर उत्तम आसनों पर बैठकर हमें बहुमूल्य और सुनने में प्रिय उपदेश दिया करें। इनसे प्रार्थना करनी चाहिये कि आप हमारे घरों में आकर निवास कीजिये और हमें अपने सदुपदेशों से कृतार्थ कीजिये। इन विद्वान् पितरों को परमात्मा का यह उपदेश है कि वे लोग देश-देश और घर-घर जाकर सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश किया करें। परमात्मा

से प्रार्थना करनी चाहिये कि आप अपनी कृपा से इन विद्वान् पितरों के शरीरों को सदा सुखी, तेजस्वी और रोगरहित रखिये, जिससे हमको उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे।

ब्रह्मचारी और पितर

२४ वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम में जिन्होंने वास कर विद्याध्ययन किया है उन 'वसु' नाम वाले स्नातकों को भी 'पितामह' कहते हैं। जिन्होंने ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में वासपूर्वक विद्याध्ययन किया है उन 'रुद्र' नाम वाले स्नातकों को भी 'पितामह' कहते हैं। इसी प्रकार ४८ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में वासपूर्वक जिन्होंने विद्याध्ययन किया है उन 'आदित्य' नाम वाले स्नातकों को भी 'पितामह' कहते हैं। अभ्युत्थान, नमस्कार और उपहार आदि विधियों द्वारा इन सबका भी सत्कार करना चाहिए।

अमावास्या और पितृयज्ञ

जहाँ कहीं अमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है वह इस अभिप्राय से है कि जो कदाचित् पितरों की नित्य सेवा न बन सके तो महीनें-महीने अर्थात् अमावास्या में जो मासेष्टि की जाती है उसमें पितरों को श्रद्धापूर्वक बुलाकर उनका सत्कार अवश्य करें।

४. बलिवैश्वदेव-यज्ञ

प्रतिदिन भोजन के निमित्त सिद्ध किए हुए अन्न में से भौतिक अग्नि में होम करके अतिथियों को भोजन कराना, तथा अन्य प्राणियों के लिए भी भोजनांश का वितरण करना "बलिवैश्वदेव" यज्ञ कहलाता है। इससे सब हमारे मित्र और हम सबके मित्र बने रहकर परस्पर उपकार करते रहें।

कुत्तों, पतितों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिए अन्न से ६ भाग अलग-अलग बाँटकर देना चाहिये। इस प्रकार सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख प्राप्त होना चाहिये।

५. अतिथि-यज्ञ

पाँचवाँ महायज्ञ अतिथि-यज्ञ है। इसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी और छलकपट से रहित हैं, तथा जो नित्य भ्रमण करके विद्या और धर्म का प्रचार और अविद्या तथा अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं। जिनके घर में इस प्रकार का व्रत-निष्ठ विद्वान् अतिथि आए तो उसकी यथावत् सेवा करनी चाहिये। जिसके आने-जाने की कोई तिथि या दिन निश्चित न हो उसे अतिथि (अ+तिथि) कहते हैं। गृहस्थी लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर बड़े प्रेम से उठकर नमस्कार करके उसे उत्तम आसन पर बैठावें। पूछें कि आपको जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो तो कहिये। जब वह स्वस्थचित्त हो जाय तब पूछें कि हे व्रतनिष्ठ! आपने कल के दिन कहाँ वास किया था, अर्थात् आप कहाँ से पधारे हैं, हे अतिथि देव! यह जल लीजिये, हमें अपने सत्योपदेश से तृप्त कीजिये, जिससे कि हमारे इष्टमित्र लोग प्रसन्न होकर आपको भी सेवा से सन्तुष्ट रखें। हे विद्वन्! जिस प्रकार आपकी प्रसन्नता हो हम लोग वैसे ही करें, तथा जो पदार्थ आपको प्रिय हो उसकी आज्ञा कीजिये, ताकि जिस प्रकार आपकी कामना पूर्ण हो वैसी सेवा की जाय।



राजप्रजा-धर्म विषय

१. परमेश्वर ही एक राजा है

सब संसार का राजा एक परमेश्वर ही है, और सब संसार उसकी प्रजा है। सबको निश्चय करके जानना चाहिये कि हम सब परमेश्वर की ही प्रजा हैं, और वही एक हमारा राजा है।

२. राज्य में तीन सभाएँ

तीन प्रकार की सभाओं को ही राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य को कभी राजा न मानना चाहिये। राज्यप्रबन्ध के लिए प्रथम 'आर्य-राजसभा' जिससे विशेष करके सब राजकार्य अर्थात् प्रबन्ध के कार्य ही सिद्ध किये जायँ। दूसरी 'आर्यविद्यासभा' जिससे कि सब विद्याओं का प्रचार किया जाय; तीसरी 'आर्यधर्मसभा' जिससे कि धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि की जाय। इन तीन सभाओं के परामर्श द्वारा युद्ध में शत्रुओं को जीतकर विश्व को सुखों से परिपूर्ण करना चाहिये। सामान्य कार्यों में तीनों सभाएँ मिलकर ही सब उत्तम-उत्तम व्यवहारों को प्रजाओं में प्रचारित करें। जहाँ एक मनुष्य राजा होता है वहाँ प्रजाएँ पीड़ित रहती हैं।

सभासदों की योग्यता

इन सभाओं में धर्मात्मा, विद्वान्, सारासार का विचार करनेवाले, श्रेष्ठ व्यक्ति ही सभासद् होने चाहियें। इन सभाओं में ऐसे व्यक्ति सभासद् रखने चाहियें जो सदाचारी हों, सत्य और न्याय को जानते हों, राज्य के धारण-पोषण-पालन के व्यवहारों में कुशल हों, सबका हित चाहनेवाले हों। राज्य के लिए एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये। जहाँ एक को राजा मानते हैं वहाँ सब प्रजा दुःखी हो जाती है और उस राज्य में उत्तम-पदार्थों का अभाव हो जाता है। आर्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि न्यायाधीश के होते अन्याय हो जानें पर वे इसमें प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु यह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही माना जाता था। इसलिए आर्य लोग सत्य और न्याय के करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे।

३. सभाध्यक्ष का राज्याभिषेक

जो कोई व्यक्ति राजा अर्थात् सभाध्यक्ष होने के योग्य हो, प्रजाजन

तथा सब सभासद् और राज्याधिकारी, सब सभाओं के राजा परमेश्वर को साक्षी जानकर, सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें और सभाध्यक्ष से कहें कि हे सभाध्यक्ष ! परमेश्वर की सृष्टि में हम लोग सत्य और न्याय के प्रकाश के लिए, विद्या की वृद्धि के लिए, उत्तम सेना, सर्वोत्तम लक्ष्मी और सर्वोत्तम कीर्ति की प्राप्ति के लिए, आपको सभाध्यक्ष के रूप में स्वीकार करते हैं। सभाध्यक्ष, सभासदों और प्रजाजनों को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि राज्य की श्रीसम्पत् उनके जीवन में उनके शिरस्थानी है, और राज्य की उत्तम कीर्ति ही उनका उज्ज्वल मुखड़ा है। सेनापति और सभाध्यक्ष सभासदों के साथ विचारपूर्वक प्रजाजनों का पालन तथा युद्ध किया करें। परमेश्वर को तीनों सभाओं का स्वामी जानकर उससे प्रार्थना किया करें कि हम सभाओं के सभासद् हैं। आपकी कृपा से सभ्यतायुक्त होकर सदा सत्य और न्याय की रक्षा किया करें।

४. राज्य में राज्याङ्गों की उन्नति

सभाध्यक्ष, सभासद् और प्रजाजन परस्पर मिल-जुलकर राज्य में बल, पराक्रम, शौर्य, धैर्य, उत्तम प्रबन्ध, सेना, कोश, प्रजासुख, पुरुषार्थ, व्यापारोन्नति, गणितविद्यादि की उन्नति, प्रजा और राज्यसभाओं में परस्पर मेल—इन सबकी यथावत् उन्नति करें।

५. राज्य के विद्वानों के कर्त्तव्य, तथा अश्वमेध यज्ञ

हे विद्वान् लोगो ! तुम राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आ जाय। सब प्रजा को विद्वान् करके ऐसा प्रबन्ध करो जिससे सब मनुष्यों का उत्तम सुख बढ़ता जाय। राज्याधिकारी राजाओं के भी राजा महाराजाधिराज परमेश्वर को साक्षी जानकर उसे ही अपने राज्य का राजा समझें, और उसके पुत्र तथा भृत्य के समान अपने आपको जानकर उसके राज्य को सत्य और न्याय से सुशोभित करें। न्याय से राज्य का पालन करना ही क्षत्रियों के लिए अश्वमेध है। घोड़े को मारकर उसके अङ्गों का होम करना अश्वमेध नहीं है।

प्राकृतिक विद्या विषय

१. सृष्टि-विद्या

जब यह सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक परमेश्वर, और दूसरा जगत् का उपादान कारण अर्थात् मूल प्रकृति तथा प्रसुप्तावस्था में जीव विद्यमान थे। देखने में आनेवाला आकाश, परमाणु, मूल प्रकृति के विषम परिणाम, वर्तमान समग्र जगत्, तथा जन्म-मरण का चलता चक्र भी उस समय नहीं था। परमेश्वर के रचने से यह विविध सृष्टि उत्पन्न हुई है, वही परमेश्वर इस विविध सृष्टि का धारणकर्त्ता, विनाशकर्त्ता और स्वामी है। यह समग्र जगत् परमेश्वर के एक अंश में विद्यमान है। परमेश्वर तो अनन्त और अथाह है। परमेश्वर अनन्त है और उसका रचा यह जगत् परमेश्वर की अपेक्षा कुछ भी नहीं। व्यापक परमेश्वर में ही सब जगत् निवास कर रहा है। जब प्रलय होती है तब भी सब जगत् कारणरूप होकर परमेश्वर के सामर्थ्य में ही रहता है (ऋ० अ० ८, अ० ७, व० १७)। सुवर्ण की भाँति चमकने वाले सूर्य, नक्षत्र और तारागण प्रलय में परमेश्वररूपी माता के गर्भ में लीन रहते हैं। इसीलिए परमेश्वर को "हिरण्यगर्भ" कहते हैं। परमेश्वर इस ब्रह्माण्ड में परिपूर्ण हो रहा है इसलिए उसे 'पुरुष' भी कहते हैं। वह जीवात्माओं में भी व्यापक होकर उनका अन्तर्यामी है, नियन्ता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान् जगत् का वही एक रचयिता है। वह मोक्ष का दाता है, जन्म-मरण के बन्धन से रहित है।

(ऋ० अ० ८, अ० ७, व० ३, मं० १) (यजु० अ० ३१, मं० १-२)

जगत् दो प्रकार का है। एक चेतन, दूसरा जड़। चेतन जगत् वह है जो कि भोजन आदि के लिए चेष्टा करता है, जिसे कि साशन (स+अशन) कहते हैं और जड़ जगत् वह है जोकि भोजन के लिए बना है, जिसे कि अनशन कहते हैं। भोजन-सामग्री, जल, वस्त्र आदि उसीके

सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं। ग्राम और वन के पशुओं को भी उसीनें उत्पन्न किया है। वही पक्षियों, कीट-पतङ्गों को भी पैदा करता है। (यजु० अ० ३१, मं० ४, ६)

परमेश्वर के ज्ञान-स्वरूप (शीतल) सामर्थ्य से चन्द्रमा, तेजस्वरूप सामर्थ्य से सूर्य और ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुई है। (यजु० अ० ३१, मं० १२)

ब्रह्माण्ड में जितने लोक हैं उनमें से प्रत्येक लोक के चारों ओर सात-सात परिधियाँ[1] (अर्थात् घेरे) ऊपर-ऊपर रची गई हैं। संसार के सब पदार्थ परमेश्वर के रचे हैं इसलिए परमेश्वर को विश्वकर्मा कहते हैं। जगत् का स्वामी परमेश्वर जड़ और चेतन जगत् के भीतर और बाहर अन्तर्यामीरूप से सर्वत्र व्याप्त है। वह जगत् को उत्पन्न करता परन्तु स्वयं अजन्मा है। वह विद्वानों की आत्माओं में प्रकाश उत्पन्न करता है। उसने त्रिविध जगत् रचा है। एक सर्वोत्कृष्ट अर्थात् प्रकृति में कार्योत्पादन की शक्ति, महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार अर्थात् मन आदि इन्द्रियाँ; दूसरा मनुष्यदेह और आकाश आदि पंचभूत; और तीसरा तृण, मृत्तिका आदि तथा कृमि, कीट, पतङ्ग आदि। परमेश्वर जगत् को रचता परन्तु स्वयं रचना में नहीं आता। (यजु० अ० ३१, मं० १५; १७, १९, अथर्व० कां० १०, सू० ७, मं० ८)

२. पृथिवी आदि लोकों का भ्रमण

पृथिवी, चन्द्रमा आदि लोक अपनी-अपनी परिधि में, अन्तरिक्ष में, सदा घूमते रहते हैं। 'जल' पृथिवी की माता के समान है, क्योंकि पृथिवी आकाशीय जलों के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है। 'सूर्य' पृथिवी के पिता के समान है, क्योंकि पृथिवी सूर्य से उत्पन्न हुई है। पृथिवी पूर्व की ओर बढ़ती हुई सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी

---

१. सात परिधियाँ=(१) समुद्र, (२) उसके ऊपर त्रसरेणु सहित वायु, (३) मेघमण्डल और वहाँ का वायु, (४) वृष्टिकारक सूक्ष्म जल, (५) उसके और ऊपर सूक्ष्म वायु, (६) और भी ऊपर अधिक सूक्ष्म वायु, जिसे कि धनञ्जय कहते हैं, (७) तथा सर्वत्र व्याप्त सूत्रात्मा वायु।

प्रकार सूर्य और चन्द्रमा तथा सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं। सूत्रात्मा वायु के आधार पर और परस्पर आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है। तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रमण और पालन कर रहा है। (यजु० अ० ३, मं० ६)

परमेश्वर ने जिस-जिस लोक के घूमने के लिए जो-जो मार्ग निश्चित किया है उस-उस मार्ग में सब लोक नियम से घूम रहे हैं।

इसी प्रकार चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। यह सूर्य और पृथिवी के बीच के अन्तराल में घूमता है। द्यौः अर्थात् प्रकाश करनेवाले सूर्य आदि लोक और प्रकाश-रहित पृथिवी आदि लोक—ये सब अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं।

३. आकर्षण और अनुकर्षण

सब लोकों के साथ सूर्य का आकर्षण है और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है। परमात्मा के अनन्त बल से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। इसीलिए सब लोक अपनी-अपनी कक्षा और स्थान से इधर-उधर चलायमान नहीं होते। वायु और सूर्य में ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े-बड़े गुण हैं। उन द्वारा सब लोकों का दिन-दिन और क्षण-क्षण में धारण, आकर्षण और प्रकाश हो रहा है। (ऋ० १।१।६।३)

परमेश्वर ने सूर्य आदि लोकों को रचा है और वे उसीके प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। परमेश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य से उन सबको धारण कर रहा है। परमेश्वर के नियन्त्रण में सूर्य आदि लोकों का, सब लोकों के साथ परस्पर आकर्षण से अर्थात् आकर्षण और अनुकर्षण से धारण हो रहा है। (ऋ० ६।१।६।५)

जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है।

(ऋ० ४।५।१०।३)

वायु और सूर्यलोक, अन्य सब लोकों के साथ, परस्पर आकर्षण और अनुकर्षण गुणों के साथ वर्तमान हैं। सूर्यलोक रसादि पदार्थों को मर्त्यलोक में प्रवेश करता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने-अपने स्थान में रखता है। अभिप्राय यह है कि दिन-रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है। इन सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना-अपना आकर्षण हो रहा है। परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। (यजु० ३३।४३)

४. प्रकाश्य और प्रकाशक लोक

लोक दो प्रकार के हैं एक प्रकाश्य जो कि प्रकाशित किये जाते हैं, दूसरे प्रकाशक जो कि प्रकाश करते हैं। सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। चन्द्रमा में जो प्रकाश है वह सूर्यलोक से प्राप्त है। सूर्य से ही चन्द्रमा और पृथिवी आदि लोक प्रकाशित हो रहे हैं। आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होकर, उससे उलटकर, भूमि को प्राप्त होती है, तभी चन्द्रमा शीतल भी होता है। जैसे स्वच्छ जल में या स्वच्छ दर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब चमकता है वैसे ही चन्द्रमा में सूर्य का प्रतिबिम्ब चमकता है।

(अथर्व० कां० १४, मं० १-२; यजु० अ० २३, मं० ६, १०)

सूर्य अकेला विचरता और अपनी ही कील पर घूमता है।

(यजु० २३।६, १०)

५. नौका, विमान आदि यान

जो कोई लड़का लोहा आदि पदार्थों से, अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रचकर, उनमें अग्नि, वायु और जल आदि का यथावत् उपयोग कर और उनमें व्यवहार योग्य पदार्थों को भरकर व्यापार के लिए समुद्र और नद आदि में जावे-आवे तो उसके धन-सम्पत् की उन्नति होती है। समुद्र में सुख से जाने-आने के लिए अत्यन्त उत्तम नौकाएँ चाहियें। व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन यानों से समुद्र में जावें-आवें। आकाश में आने-जाने की क्रिया को भी इनसे सिद्ध करें,

इन्हें विमान कहते हैं। ये ऐसे चिकने होने चाहियें कि ये जल से न गलने पायें। ये यान तीन प्रकार के होने चाहियें, भूमि पर चलनेवाले, आकाश में उड़नेवाले तथा समुद्र में चलनेवाले। जिन पुरुषों को विमान आदि यानों की सिद्धि की इच्छा हो वे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें। तीन दिन-रात में सागर, आकाश और भूमि के पार, नौका, विमान और रथों द्वारा सुखपूर्वक जाने में समर्थ हों। उनके अग्नि के ६ घर बनाने चाहियें तथा शीघ्र गमन के लिए उनमें ६ यन्त्र होने चाहियें। (ऋ० १।८।८।३, ४)

नौका आदि यानों में सैकड़ों अरित्र अर्थात् लोह आदि के बने कलायन्त्र और लङ्गर आदि होने चाहियें, जिनसे कि जल की थाह ली जा सके, उचित स्थानों पर उन्हें थामा जा सके और वायु आदि विघ्नों से उनकी रक्षा की जा सके। ये तीन सुदृढ़ चक्रोंवाले हों। उनमें तीन खम्भे बनाने चाहियें जिनके आधार पर सब कलायन्त्र लगे रहें। ये खम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें। नाभि के समान मध्यकाष्ठ में सब कलायन्त्र जुड़े रहने चाहियें।

(ऋ० १।८।८, ६।५, १; ऋ० १।३।४।२)

ये विमान आदि ऐसे हों कि पृथिवी, जल, और आकाश में इन द्वारा प्रतिदिन जाना-आना हो सके। इनका निर्माण तीन धातुओं से होना चाहिये। लोहा, तांबा और चाँदी से। नगर तथा ग्राम की गलियों में ये यान झटपट जा-आ सकें, तथा दूर-दूर के देशों में भी उनसे शीघ्र जाना-आना हो सके। मन के वेग के समान शीघ्रगमन करनेवाले यानों से प्रतिदिन सब भूगोल के बीच जावें-आवें। वाष्प से चलाने के लिए इनमें एक-एक जलाशय बनावें। (ऋ० १।३।५।१)

कुशल कारीगरों द्वारा ये विमान बनवाने चाहियें। अग्नि आदि शक्तियाँ, जल से प्राप्त वाष्प को लेकर, इन सुदृढ़ विमानों को आकाश में उड़ा ले जाती हैं। इनमें एक चक्र चाहिये जिसके घुमाने से सब कलाएँ घूमें। इनमें तीन-चक्र और रचने चाहियें जिनमें से एक के चलाने से सब कलाएँ रुक जायँ, दूसरे के चलाने से विमान आगे चलें

और तीसरे के चलाने से विमान पीछे की ओर चलें। विमान के अंग-प्रत्यङ्ग को परस्पर सुदृढ़ जुड़े रहने के लिए इनमें सैकड़ों पेच लगाने चाहियें। इनमें ६० कलायन्त्र रचने चाहियें, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें, अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तो भाप-घर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहियें, जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देने चाहियें, जब पूर्व को चलाना हो तब पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहियें और जब पश्चिम को चलाना हो तब पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोलने चाहियें।
(ऋ० १।३।३४।२; ऋ० २।३।२३।१-२)

वैद्यक विद्या

परमेश्वर ने प्राण, जल आदि पदार्थ तथा सोमलता आदि ओषधियाँ हमारे सुख के लिए रची हैं। जो मनुष्य धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले हैं उनको परमेश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं, और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं उनके लिए परमेश्वर के रचे पदार्थ सदा दुःख देनेवाले होते हैं।



प्रश्नोत्तर विषय

वेदों के चार विभाग क्यों ?

भिन्न-भिन्न विद्या जानने के लिए वेदों के चार विभाग किये गये हैं। ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया गया है ताकि उन पदार्थों से उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके। ज्ञान के पश्चात् ही कर्म में प्रवृत्ति होती है, पूर्व नहीं। इसलिए ऋग्वेद की गणना प्रथम की गई है।

यजुर्वेद में कर्मकाण्ड का विधान है। ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति कर्म के लिए होती है। जैसे ऋग्वेद में पदार्थों के गुणों का वर्णन किया है वैसा ही यजुर्वेद में संसार के व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है जिससे लोगों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त हो सके। क्योंकि जब तक कोई कर्म ज्ञानपूर्वक न किया जाय तब तक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता। इसलिए जैसा जानना वैसा ही करना भी चाहिए तभी ज्ञान से फल होता है।

सामवेद में ज्ञान और कर्म का अन्तिम फल जो कि उपासनाविधि-पूर्वक आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति है उसका वर्णन हुआ है।

तथा तीन वेदों में जो-जो विद्याएँ हैं उन सबके शेष भाग की पूर्त्ति, सब विद्याओं की रक्षा और संशयों की निवृत्ति अथर्ववेद में की गई है। अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिए ऋग्वेद, कर्मकाण्ड के लिए यजुर्वेद, इनकी उन्नति और उपासनाकाण्ड के लिए सामवेद और शेष विद्याओं की पूर्त्ति तथा संशयों के छेद के लिए अथर्ववेद की प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी करके संख्या बाँधी है।

मन्त्रों के पुनः पुनः पाठ क्यों ?

कितने ही मन्त्रों का चारों वेदों में पाठ किया गया है। वहाँ प्रकरणभेद के कारण उन मन्त्रों में कुछ-कुछ अर्थभेद हो जाता है, इसलिए कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया गया है।

प्रत्येक मन्त्र के साथ ऋषिनाम क्यों ?

परमेश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि, वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया उस-उस ऋषि का नाम उसी-उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया है। इसी कारण से उस-उस व्यक्ति का 'ऋषि' नाम भी हुआ है। ऋषियों ने परमेश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े-बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिए पूर्ण उपकार किया है। इसलिए विद्वान् लोग उनका नाम स्मरण करते हैं।



कतिपय पारिभाषिक शब्द

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के "ग्रन्थ प्रामाण्या-प्रामाण्य विषय" तथा "भाष्यकरणशङ्का-समाधानादि विषय"—इन प्रकरणों में वेदार्थोपयोगी कतिपय पारिभाषिक शब्दों के सत्यार्थ पर प्रकाश डाला है। उनमें से कतिपय उपयोगी पारिभाषिक शब्दों के सत्यार्थ यहाँ लिखे जाते हैं।

(१) अश्वमेध—राष्ट्रमश्वमेधः अर्थात् राष्ट्र को अश्वमेध कहते हैं। क्योंकि अश्व समान बलवान् राजा ही राष्ट्र-यज्ञ को रचा सकता है, मेध का अर्थ है यज्ञ। राष्ट्ररक्षा और राज्यपालन को यज्ञकर्म समझकर राष्ट्र का उत्तम-शासन करना चाहिए।

(२) अहल्या—यह नाम रात्रि का है। अहनि लीयते इति। दिन में रात्रि लीन हो जाती है, छिप जाती है। इसलिए रात्रि को अहल्या कहते हैं।

(३) इन्द्र—यह नाम सूर्य का है। इन्द्र का यौगिक अर्थ है "परमैश्वर्य वाला"। पृथिवीस्थ सब ऐश्वर्य, सूर्य की शक्ति के कारण से हैं। अतः सूर्य परमैश्वर्य वाला होने से इन्द्र है।

(४) ऋषि—इस शब्द के अर्थ निम्नलिखित हैं :—मन्त्रार्थों के द्रष्टा मनुष्य, मन्त्र, प्राण, तर्क।

(५) कश्यप—सकल जगत् को अपने ज्ञान से देखने के कारण परमेश्वर को कश्यप कहते हैं। पश्यतीति पश्यकः, पश्यक एंव कश्यपः। पश्यक शब्द के आदि और अन्त के वर्णों का विपर्यास हुआ है।

(६) कूर्म—यह भी नाम परमेश्वर का है। करोति इदं सकलं जगत् इति कूर्मः। परमेश्वर इस सब जगत् का कर्त्ता है, रचयिता है इसलिए वह कूर्म है।

(७) गणपति—गण अर्थात् गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालक परमेश्वर।

(८) गयाश्राद्ध—गय का अर्थ है "प्राण" प्राणों में या प्राणायाम द्वारा श्रद्धापूर्वक परमेश्वर की उपासना करना गया श्राद्ध कहलाता है। इससे जीव की मुक्ति हो जाती है। परमेश्वर प्राणों का प्राण है। अतः प्राणों में परमेश्वर का श्रद्धापूर्वक ध्यान कर उस में मग्न हो जाना "गयाश्राद्ध" करना है। गय का अर्थ 'सन्तान' भी है। सन्तानों का पालन तथा उनकी सुशिक्षा भी श्रद्धापूर्वक होनी चाहिए। इस प्रकार सन्तान-पालन और उनको सुशिक्षा भी "गयाश्राद्ध" है। इसी प्रकार गृहस्थ में रहकर माता, पिता, आचार्य, अतिथियों और मान्यों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना भी गयाश्राद्ध है। इन गयाश्राद्धों के करने से विष्णुपद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्राणा वै गयाः (श० ब्रा० १४। ८। ५। ६-७) गय इति अपत्यनामसु। (पठितम् निघं० २। २)

(९) गंगा, यमुना, सरस्वती—ऋग्वेद में गंगा, यमुना, सरस्वती ये नाम आए हैं। परन्तु ऋग्वेद में ये नाम भारत की नदियों के नहीं हैं। अपितु ये नाम इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाम वाली नाड़ियों के हैं, जो नाड़ियाँ कि शरीर में हैं। इन नाड़ियों में योगाभ्यासपूर्वक परमेश्वर की उपासनारूपी स्नान से मनुष्य सब दुःखों से तर जाते हैं, इसलिए इन नाड़ियों को तीर्थ भी कहते हैं। नासिका के दाहिनी ओर इडा का स्थान है और बाईं ओर पिंगला का। इडा का वर्ण श्वेत है और पिंगला का पीला है। ये दोनों नाड़ियाँ जहाँ परस्पर मिलती हैं उसे सुषुम्णा कहते हैं, उस स्थान में योगाभ्यास द्वारा ईश्वर की उपासना-रूपी स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहते हैं।

(१०) गोतम—यह नाम चन्द्रमा का है। गच्छतीति गौः अतिशयेन गौरिति गोतमः, चन्द्रः। अर्थात् गौ का अर्थ है "गति वाला" अतिशय गति वाला होने से चन्द्रमा को गोतम कहते हैं।

(११) जमदग्नि—चक्षु का नाम 'जमदग्नि' है। चक्षुर्वै जमः दग्नि-ॠषिः, यदनेन जगत् पश्यति अथो मनु-ते तस्माच्चक्षुर्जमदग्नि-ॠषिः। (श० ब्रा० ८। १)

(१२) तीर्थ—उनका नाम तीर्थ है जिनसे कि जीव दुःखरूप सागर को तरकर सुख को प्राप्त हो। वे तीर्थ निम्नलिखित हैं। यथा—

(क) अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है उसे तीर्थ कहते हैं।

(ख) वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम तीर्थ है, जिनके पढ़ने-पढ़ाने से और उनमें कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दुःख-समुद्र को तरकर सुखों को प्राप्त होते हैं।

(ग) वेदादि शास्त्रों को पढ़ाने वाले आचार्य का, वेदादि शास्त्रों का, तथा माता-पिता और अतिथि का नाम तीर्थ है। क्योंकि इनकी सेवा तथा सदुपदेशों से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार हो जाता है।

(घ) विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, तथा विद्याव्रतस्नातक ये तीन स्नातक भी तीर्थ कहलाते हैं। विना ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त किये परन्तु पूर्ण विद्या को समाप्त कर केवल विद्यातीर्थ में स्नान करनेवाला 'विद्यास्नातक' कहलाता है। ब्रह्मचर्याश्रम को नियमपूर्वक समाप्त करके परन्तु पूर्ण विद्या को विना समाप्त किये केवल व्रततीर्थ में स्नान करने वाला 'व्रतस्नातक' कहलाता है। तथा ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्णरूप से समाप्त कर तथा साथ ही विद्या को भी पूर्णरूप से समाप्त कर व्रत और विद्या दोनों में स्नान करनेवाला 'विद्याव्रतस्नातक' कहलाता है।

(ङ) दुःख-सागर से तरानेवाले पूर्वोक्त तीर्थों की जो आत्मा है वह परमेश्वर परमतीर्थ है, क्योंकि वह अपने भक्त धर्मात्माओं को शीघ्र ही तरा देता है। जल और किसी विशेष स्थान को तीर्थ नहीं कह सकते क्योंकि जल और

किसी विशेष स्थान में तराने की शक्ति नहीं है। जल को तो नौका द्वारा तरा जाता है और विशेष स्थान को पैरों द्वारा।

(१३) त्वष्टा—यह नाम भी सूर्य का है। त्वष्टा का अर्थ है सूक्ष्म करनेवाला। सूर्य अपनी गरमी के द्वारा पृथिवीस्थ जलों को सूक्ष्म कर भापरूप कर देता है। वही भाप आकाश में जाकर मेघरूप हो जाती है। इसलिए मेघ को त्वष्टा का पुत्र कहते हैं। मेघोत्पादक होने से सूर्य त्वष्टा है, और मेघ के साथ युद्धकर उसे बरसा देने के कारण सूर्य का नाम इन्द्र भी है।

(१४) देवतायतन तथा देवताभ्यर्चन—विद्वान् मनुष्यों का नाम देव या देवता है। जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते-पढ़ाते हैं, और निवास करते हैं उन्हें देवतायतन कहते हैं। वहाँ जाना, बैठना, और उन लोगों का सत्कार करना देवाभ्यर्चन है।

(१५) देवासुर-संग्राम—

(क) देवासुर-संग्राम का अभिप्राय है "देवों और असुरों में युद्ध"। देवासुर-संग्राम का वर्णन वैदिक साहित्य में आता है। यह प्राकृतिक दृश्य का ही वर्णन है। देव का अर्थ है दिव्यगुणों वाला सूर्य और असुरों का अर्थ है प्राणदाता मेघ (असु=प्राण; रा-दान)।

(ख) विद्वान्, सत्यवादी, सद्विचारक तथा सत्कर्मा लोगों को देव कहते हैं, क्योंकि ये लोग इन दिव्य गुणों को धारण करनेवाले हैं। इसी प्रकार अविद्वान्, असत्यभाषी, असत्य-विचारी, मिथ्याचारी और अपने प्राणों के पोषण में तत्पर लोगों को असुर कहते हैं, क्योंकि ये लोग अपने प्राणों के पोषण में तत्पर हुए जीवन के ऊँचे विचारों से पराङ्मुख रहते हैं। इन देवों और असुरों का परस्पर विरोध रहना यही देवासुर-संग्राम है।

(ग) मनुष्य का मन और ज्ञानेन्द्रियाँ भी देव हैं। इनमें मन राजा है और ज्ञानेन्द्रियाँ उसकी सेना है। सब प्राणों का

नाम असुर है। इनमें मुख्य प्राण राजा है और अपान आदि उसकी सेना है। मन में विज्ञान के बढ़ने से प्राणों का पराजय होता है, और प्राणशक्तियों के वढ़ जाने से मन का पराजय होता है। अतः परस्पर विरोध रूप यह युद्ध भी हुआ करता है।

(घ) दिन देव है और रात्रि असुर है। इनमें भी परस्पर विरोध चल रहा है।

(ङ) शुक्लपक्ष का नाम देव और कृष्णपक्ष असुर है।

(च) उत्तरायण का नाम देव और दक्षिणायन का नाम असुर है।

ऊपर दिये सब दृष्टान्त देवासुर-संग्राम के यथार्थ स्वरूपों पर प्रकाश डालते हैं।

(१६) पस, गभ—स्वेच्छाचारी राजा का नाम "पस" है, और प्रजा का नाम "गभ" है।

(१७) प्रजापति—यह नाम सूर्य का है, क्योंकि सूर्य सब प्रजा की रक्षा करता है। ओषधियों, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य आदि सब प्रजा की रक्षा, सूर्य अपने प्रकाश तथा ताप द्वारा तथा वृष्टिजल के प्रदान द्वारा कर रहा है। इसलिए सूर्य को प्रजापति कहते हैं (प्रजा+पति=रक्षक)।

(१८) प्रतिमा—वेदों में प्रतिमा शब्द आता है। परन्तु वेदों में इसका अर्थ पत्थर आदि की बनी मूर्ति नहीं है, अपितु प्रतिमा का अर्थ है परिमाण या नाप-तोल। परमेश्वर की प्रतिमा नहीं, इसका अभिप्राय है कि परमेश्वर का परिमाण या नाप-तोल नहीं है, अर्थात् वह असीम है, सीमारहित है।

(१९) यव, हरिण—प्रजा का नाम यव है, और स्वेच्छाचारी राजा का नाम हरिण है। जैसे हरिण पराये खेत में यवों को खाकर आनन्दित होते हैं, वैसे स्वेच्छाचारी राजा प्रजा के उत्तम पदार्थों को हथियाकर सुख भोगते हैं।

(२०) विष्णुपद—व्यापक परमेश्वर जो सब जगत् का कर्त्ता है उसका नाम विष्णु है (विष्लृ व्याप्तौ)। प्रकृति और परमाणु इस विष्णु के पाद हैं। इन पादों द्वारा परमेश्वर सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापित करके उनका धारण कर रहा है।

(२१) वृत्रासुर—यह नाम मेघ का है। मेघ को "वृत्र" इसलिए कहा कि यह फैलकर आकाश तथा सूर्य पर आवरण डाल देता है (वृ=आवरण+त्र=त्राण, रक्षक), और अन्त में वर्षा द्वारा हमारा त्राण करता है। मेघ को "असुर" भी कहते हैं। इसका अर्थ है प्राणदाता (असु=प्राण, रा=देना)। मेघ प्राणों को देता है। विना मेघों के जल प्राप्त नहीं होता, और विना जल के प्राणों का बने रहना असम्भव है। कभी मेघ सूर्य को ढाँप देते और कभी सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है। यही सूर्य और वृत्रासुर का परस्पर युद्ध है। सूर्य का नाम इन्द्र भी है, अतः इस युद्ध को इन्द्र और वृत्रासुर का युद्ध भी कहते हैं।

(२२) वेद—वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ये ज्ञान के भण्डार हैं इसलिए इन्हें वेद कहते हैं (विद् ज्ञाने)। वेदों के अन्य नाम भी हैं, यथा—श्रुति, आगम, निगम, मन्त्र, छन्द। वेद नित्य हैं। इन्हें सदा गुरु-परम्परा से सुनते-सुनाते चले आए हैं, इसलिए इन्हें श्रुति कहते हैं (श्रु=श्रवणे)। ये निश्चित अर्थात् यथार्थ ज्ञान के साधन हैं। इसलिए इन्हें निगम कहते हैं (निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् सः)। आगम के अर्थ को भी निगम के अर्थ की भाँति समझना चाहिये। इनमें गुप्त अर्थात् रहस्यमय पदार्थों का वर्णन है। इसलिए इन्हें मन्त्र कहते हैं (मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे, मन ज्ञाने)। अविद्या दुःखों के निवारण करने से तथा सुखों द्वारा आच्छादन करने से इन्हें छन्द कहते हैं (छदि अप वारणे)। तथा वेदाध्ययन द्वारा सब विद्याओं की प्राप्ति से मनुष्य आह्लादित होता है इसलिए भी इन्हें छन्द कहते हैं (चदि आह्लादने दीप्तौ च)।

(२३) **शकुन्तिका**—प्रजा का नाम शकुन्तिका है, अर्थात् छोटी चिड़िया। क्योंकि जैसे बाज के सामने छोटी-छोटी चिड़ियों की दुर्दशा होती है वैसे ही जहाँ एक मनुष्य राजा होता है वहाँ राजा के सामने प्रजा की दुर्दशा होती है। इसलिए प्रजा शकुन्तिका है।

(२४) **हिरण्यगर्भः**—हिरण्य का अर्थ है विज्ञान; मोक्ष, जीवात्मा, प्रकाशस्वरूप सूर्यादि लोक, यश, कीर्ति—ये जिसके गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में रहकर कार्य करते हैं वह हिरण्यगर्भ परमेश्वर है।




महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथि
पु०सं० 1799
भारती पुस्तकालय

वेद सम्बन्धी

वेदोद्यान के चुने हुए फूल	आचार्य [illegible]	
वैदिक वन्दन	पं. [illegible]	
वैदिक विचार धारा का वैज्ञानिक आधार	पं. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार	२०.[illegible]
वैदिक सम्पदा	पं. वीरसेन वेदश्रमी	२०.००
वेद सौरभ	स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती	४.००
वैदिक उदात्त भावनाएं	„	३.००
ऋग्वेद शतकम्	„ „	२.००
यजुर्वेद शतकम्	„ „	२.००
सामवेद शतकम्	„ „	२.००
अथर्ववेद शतकम्	„ „	२.००
ऋग्वेद का अक्ष सूक्त	„ „	१.००
वेद व्यावहारिक है	पं. रामचन्द्र देहलवी	०.७५
वेद का इस्लाम पर प्रभाव	„ „	०.७५
वेदार्थ विज्ञान	पं. रामशरण वशिष्ठ	१.००
वेद का राष्ट्र गान	पं. राजनाथ पाण्डेय	१.००

प्राप्तिस्थान :

गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-११०००६